प्रकाशक—
सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार
६०, राजपुर रोड,
देहरादून

मुद्रक—
ला० मनोहर लाल पुरी
सिविल ऐण्ड मिलिटरी प्रेस
प्रेम नगर, [illegible]

आदित्य-ब्रह्मचारी

महर्षि दयानन्द

के

चरणों में—

गंगा-तट के तपोवनों ने दिया विश्व को जो सन्देश,
जिससे जीत लिया देवों ने जरा-मरण का दुर्जय क्लेश।
उसी महाव्रत 'ब्रह्मचर्य' के मूर्तिमान मानव अवतार!
ऋषिवर! मेरी तुच्छ भेंट यह चरणों में करिये स्वीकार॥
कलि के इस विकराल काल में कल्पवृक्ष के सुन्दर फूल
देव-लोक से लाकर तुमने बरसा दिये यहाँ सुख-मूल।
उनमें से ही कुछ ये चुनकर लाया भक्ति-भरा उपहार,
ऋषिवर! अपनी वस्तु कीजिये अपने चरणों में स्वीकार॥

—स व्र.

हिन्दी के दो रत्न

१. शिक्षा मनोविज्ञान

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग ने इसे अपने विषय की सर्वोत्तम पुस्तक घोषित किया और १२००) (बारह सौ) रुपया 'मंगला प्रसाद' पारितोषिक देकर लेखिका को सम्मानित किया। अपने विषय की इतने गहन विषय पर इतनी सरल भाषा में लिखी हुई दूसरी पुस्तक नहीं। सजिल्द पुस्तक का मूल्य सात रुपया।

२. स्त्रियों की स्थिति

इस पुस्तक को भी हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने अद्वितीय पुस्तक घोषित कर इस पर ५००) (पांच सौ) रुपये का 'सेकसरिया पारितोषिक' दिया है। स्त्रियों के सभी प्रश्नों पर इस पुस्तक में साहित्यिक विवेचना की गई है। यह पुस्तक पिता पुत्री को, पति पत्नी को, भाई बहिन को भेंट दे तो इससे बढ़कर दूसरी भेंट नहीं हो सकती। सजिल्द पुस्तक का मूल्य साढ़े तीन रुपया।

पुस्तक मिलने का पता :—

चन्द्रावती लखनपाल एम० ए०, बी० टी०

आचार्या, कन्या गुरुकुल,

६०, राजपुर रोड, देहरादून

विषय-सूची

ब्रह्मचर्य-सन्देश

प्रारम्भिक शब्द

[स्वामी श्रद्धानन्दजी द्वारा लिखित]

आजकल की सभ्य कहानेवाली पाश्चात्य जातियों के पूर्वज जिस समय अन्धकार में हाथ से रास्ता टटोल रहे थे और अपने अंग को वस्त्र से ढाँपना तक न जानते थे, उस समय आर्यावर्त में 'ब्रह्मचर्य'-विषयक ज्ञान अपनी चरम सीमा तक पहुँच चुका था। मानवीय विकास के लिये ब्रह्मचर्य अत्यावश्यक समझा जाता था, विचार तथा क्रिया में विवाह को एक धार्मिक संस्कार समझा जाता था और सन्तानोत्पत्ति गृहस्थ के तीन ऋणों में से एक ऋण समझा गया था। बृहदारण्यकोपनिषद् में गर्भाधान-विधि को अत्यन्त पवित्र यज्ञ कहा गया है, इसके अनुष्ठान के लिये अनेक नियमों की शृंखला बाँध दी गई है। मैक्समूलर जैसे उच्च-कोटि के विद्वान् ने उक्त स्थल का आंग्लभाषा में अनुवाद नहीं किया, क्योंकि उसका विचार था कि वर्तमान सभ्य कहानेवाले गन्दे संसार के लिये वे विचार इतने उच्च हैं कि उनका महत्त्व उसकी समझ में नहीं आ सकता।

ब्रह्मचर्य के महत्त्व को समझने के लिये योरप तथा अमेरिका को पर्याप्त समय लगा है। थोड़े समय से वहाँ के विज्ञान तथा चिकित्सा से परिचय रखनेवाले विद्वानों ने अनुभव

करना प्रारम्भ किया है कि ब्रह्मचर्य की नींव पर ही व्यक्ति तथा जाति के जीवन की भित्ति का निर्माण किया जा सकता है। पश्चिम में हरएक को विचारों की आजादी है। उसी का परिणाम है कि इस थोड़े से अरसे में इस विषय में उन्होंने अपने वैज्ञानिक अनुभवों तथा अन्वेषणों के आधार पर एक नवीन विद्या की भी आधार-शिला रख दी है, जिसका नाम 'युजेनिक्स' (सन्तति-शास्त्र) है। 'ब्रह्मचर्य' एक व्यापक शब्द है, जिसमें 'युजेनिक्स' भी शामिल है। वेदों के आदेश के अनुसार यह मानवीय जीवन का प्रथम सोपान है, और यही उन्नति के मार्ग पर मनुष्य-समाज का पथ-प्रदर्शक है। इस युग में सबसे प्रथम ऋषि दयानन्द ने उँगली उठाकर वर्तमान सभ्यता की जड़ में लगे हुए घुन की तरफ़ निर्देश करते हुए वाणी तथा आचरण द्वारा बतलाया था कि शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक ब्रह्मचर्य द्वारा ही मनुष्य-समाज की रक्षा हो सकती है। आज पाश्चात्य विद्वान् ऋषि दयानन्द के ब्रह्मचर्य-विषयक एक-एक शब्द की दाद दे रहे हैं।

मेरे शिष्य प्रो० सत्यव्रत सिद्धांतालंकार ने विद्यार्थी-समाज के लिये 'ब्रह्मचर्य-सन्देश' को लिखकर मातृभूमि की महान् सेवा की है। गुरुकुल-विश्वविद्यालय, काँगड़ी, के आचार्य की हैसियत से मुझे पूरे १४ वर्ष तक सैकड़ों बालकों के जीवन के निरीक्षण तथा सञ्चालन का उत्तरदायित्व-पूर्ण अधिकार प्राप्त रहा है। मेरा अनुभव है कि प्रत्येक युवक की १३ से १८ वर्ष तक की अवस्था अत्यन्त नाज़ुक होती है, परन्तु यदि आचार्य

कुशलता-पूर्वक इस समय के ख़तरों में से उसे निकाल ले जाय, तो बालक का जीवन बिगड़ने के स्थान पर शारीरिक तथा मानसिक शक्ति का ख़ज़ाना बन जाय। 'ब्रह्मचर्य-संदेश' जैसी पुस्तकों के प्रचार से बालकों का अत्यन्त उपकार हो सकता है, परन्तु वास्तविक कार्य तभी होगा, जब आचार्य की देख-रेख में रहते हुए ब्रह्मचारियों का जीवन गढ़ा जायगा।

ब्रह्मचर्य के सन्देश को सुनने और सुनाने के लिये दैवीय प्रेम तथा पवित्रता का वातावरण होना चाहिए। मैंने स्वयं इस विषय में विद्यार्थियों को अनेक उपदेश दिये हैं। जब तक मन को शुद्ध कर इन उपदेशों को न सुना जाय, तब तक इनसे लाभ के स्थान पर हानि होने की भी सम्भावना रहती है। इसलिये इस पुस्तक के पढ़नेवालों के प्रति मेरी सलाह है कि इसके पन्ने पलटने से पहले मन में पवित्रता तथा नम्रता के भाव भर लें। विश्व-विधायक देवमाता को अपने हृदय में प्रतिष्ठित करके, और यदि यह सम्भव न हो, तो अपनी प्रेममयी जननी जिसकी गोद में खेलते-खेलते कई वर्ष बिता दिये, उसका ध्यान करके, पवित्र तथा दैवीय वातावरण में इस पुस्तक को हाथ लगाएँ।

गुरुकुल छोड़ने के बाद, संन्यास में प्रविष्ट होते समय, मेरा विचार था कि ब्रह्मचर्य-विषयक अपने अनुभवों को देश के विद्यार्थी-समाज तक पहुँचाऊँ। परन्तु 'मेरे मन कछु और है, विधना के मन और'—मैं अपने वास्तविक मार्ग से हटकर सामयिक घटनाओं की उलझन में पड़ गया। इस समय भारत के विद्यार्थी-

की सबसे बड़ी जरूरत यही है कि रहनुमा बनकर उसके वैयक्तिक जीवन को ठीक मार्ग पर चलाया जाय। मैं भारत के स्कूलों तथा कॉलेजों के अध्यापकों एवं आचार्यों से कहना चाहता हूँ कि वे अपने धर्म को पहचानें—स्वयं ब्रह्मचारी बनें, ताकि अपने छात्रों को ब्रह्मचारी बना सकें। वेद भगवान् का कथन है:—'आचार्योब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते'—ब्रह्मचर्य धारण करके ही आचा छात्र को ब्रह्मचारी बना सकता है। मेरी यही हार्दिक प्रार्थना है कि 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव' स्वरूपवाले भगवान् मातृ-भूमि के आचार्यों तथा शिष्यों को ज्योति-स्तम्भ होकर कर्तव्य-मा प्रदर्शित करें।

जन्म-शताब्दी-कैम्प
मथुरा
२८ जनवरी, १९२५

श्रद्धानन्द संन्यासी

प्रथम संस्करण की भूमिका

ऋषि दयानंद की जन्म-शताब्दी को हुए तीन साल बीत गये। शताब्दी के उपलक्ष मे बहुतों ने अपनी-अपनी भेंट ऋषि के चरणों में धरी। मैंने सोचा, मैं किस उद्यान से कौन-सा फूल, अपने देवता की आराधना में रक्खूँ ? अभी दुविधा में ही पड़ा था कि आचार्य श्रद्धानन्द ने देवलोक के कुछ सुरभित पुष्पों को मेरी अंजली में डालकर कहा—"बेटा, ले, 'ब्रह्मचर्य' के इन फूलों को अपने देवता के चरणों में रख दे।" आचार्य के दिये हुए फूलों से मैंने अपने देवता की पूजा की, और मेरे देवता ने उन फूलों को सर्वत्र बखेर देने का आदेश किया। 'ब्रह्मचर्य-संदेश' की यही आत्म-कहानी है।

शताब्दी के अवसर पर यह ग्रन्थ आंग्लभाषा में लिखा गया। का यह पहला ही ग्रन्थ था, इसलिये ज्ञात न था कि इसका जनता में कैसा स्वागत होगा। अँगरेज़ी में दो हज़ार प्रतियां छपवाई गई थीं, वे सब निकल गईं, और इसे दोबारा प्रकाशित करने का प्रश्न उपस्थित हुआ। इस समय तक मेरे पास सैंकड़ों पत्र इकट्ठे हो गये थे। सब कहते थे कि इस पुस्तक ने उनकी आँखें खोल दी हैं। परन्तु उनकी शिकायत थी कि यह पुस्तक बचपन में ही उनके हाथ क्यों नहीं पहुँची, और साथ ही वे लिखते थे

कि यदि बचपन में ही उन्हें यह पुस्तक मिलती, तो शायद आंग्ल-भाषा न समझने के कारण उनके पल्ले कुछ न पड़ता। सबकी तान इसी पर टूटती थी कि यह पुस्तक हिन्दी में होनी चाहिये। कई पिताओं की चिट्ठियाँ आईं, यदि इसका हिन्दी-रूपान्तर हो जाय, तो वे उसे अपने पुत्र के हाथ में देना चाहते हैं; कई भाइयों की चिट्ठियाँ आईं कि यदि यह पुस्तक हिन्दी में हो, तो वे इसे अपने छोटे भाई को भेंट करना चाहते हैं। मेरे पास इतने पत्र पहुँचे हैं कि मेरा विश्वास हो गया है, इस पुस्तक की हिन्दी जनता को जरूरत है। अँगरेजी की पुस्तक वकीलों, डॉक्टरों, बैरिस्टरों, अध्यापकों तथा उच्च-कक्षा के छात्रों के हाथों में ही पहुँची है। उनकी यह निश्चित सम्मति है कि जिस ढंग से इस पुस्तक में ब्रह्मचर्य के विषय को खोला गया है, वह अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि का है। ब्रह्मचर्य पर हिन्दी में कई पुस्तक हैं, परन्तु जिस पुस्तक में युवकों के एक-एक प्रश्न पर गम्भीरता से विचार किया गया हो, ऐसी पुस्तक एक-आध ही होगी। 'ब्रह्मचर्य बड़ी अच्छी चीज है'—इतना कह देने-मात्र से युवकों को कुछ समझ नहीं पड़ता। उनके मस्तिष्क में अस्पष्ट-से विचार घूमने लगते हैं। जिन मित्रों ने मेरी अँगरेजी की पुस्तक पढ़ी है, उनका कहना है कि उस पुस्तक से उन्हें ब्रह्मचर्य के विषय में कुछ ज्ञान प्राप्त हुआ है; भाषा को छोड़ दिया जाय, तो भी उनके पल्ले कुछ बच रहता है। उन्हीं मित्रों के आग्रह से आज यह पुस्तक हिन्दी-भाषी जनता के सम्मुख रखने की धृष्टता कर रहा हूँ। इस पुस्तक में ब्रह्मचर्य

के गीत गाने में कुछ कसर नहीं छोड़ी गई, परंतु उन गीतों के साथ-साथ उसके वैज्ञानिक स्वरूप पर भी विस्तृत विचार किया गया है, उसके हरएक पहलू पर प्रकाश डाला गया है। गुजराती तथा मराठी में इस पुस्तक का रूपांतर हो चुका है। इस पुस्तक में अँगरेजी की पुस्तक से बहुत कुछ ज्यादा है। मैं चाहता था कि गुजराती तथा मराठी के अनुवादक कुछ देर ठहरते और अँगरेजी से अनुवाद करने की अपेक्षा मेरी हिन्दी-पुस्तक से अनुवाद करते। परंतु उन्हें जल्दी थी। मैं चाहता हूं, इस पुस्तक का भारत की सब भाषाओं में अनुवाद हो जाय और १३–१४ वर्ष की आयु के प्रत्येक बालक के हाथ में यह पुस्तक पहुँचे।

यह 'संदेश' इस युग के प्रवर्तक ऋषि दयानंद का 'संदेश' है। उसी संदेश को आधार में रखकर, उसे पुष्ट बनाने के लिये पाश्चात्य विद्वानों के ग्रंथों से सहायता लेने में संकोच नहीं किया गया। इसमें जो कुछ है, वह दूसरों का है: बस भाषा मेरी तथा दृष्टिकोण ऋषि दयानंद और आचार्य श्रद्धानंद का है।

इस पुस्तक के लिखने में पं० कृष्णदत्तजी आयुर्वेदालंकार, फैजाबाद, ने बहुत सहायता पहुँचाई है। शारीर-शास्त्र के अध्यायों का उल्था तो प्रायः उन्हीं का किया हुआ है। पं० शंकरदत्तजी विद्यालंकार ने इस पुस्तक के प्रकाशन में बड़ी सहायता की है। उक्त दोनों भाइयों को हार्दिक धन्यवाद है। यदि इस पुस्तक से एक भी आत्मा के उत्थान में सहायता मिलेगी, तो मैं अपना

परिश्रम सफल समझूँगा, क्योंकि एक चेतन आत्मा इस अखिल जड़ जगत् से अधिक मूल्यवाला है !

सत्यव्रत सिद्धान्तालङ्कार

चतुर्थ संस्करण की भूमिका

'ब्रह्मचर्य-सन्देश' के चतुर्थ संस्करण को जनता के सम्मुख रखते हुए मुझे अत्यन्त हर्ष होता है। इस पुस्तक ने जनता के हृदय में अपना स्थान बना लिया है। आजकल की कठिनाइयों में पुस्तक का प्रकाशन एक समस्या बन गई है, परंतु फिर भी जनता के अनुरोध से 'ब्रह्मचर्य-सन्देश' का प्रकाशन अवश्यम्भावी हो गया।

—सत्यव्रत

ॐ

ब्रह्मचर्य-सन्देश

प्रथम अध्याय

क्या यह विषय गोपनीय है ?

हम एक गन्दे वातावरण मे साँस ले रहे हैं। हरएक श्वास के साथ न जाने कितने गन्दे विचार हमारे दिमाग में जा पहुंचते हैं, और न जाने कितने ही और भीतर प्रविष्ट होने की तैयारी करनें लगते हैं। नन्हे-नन्हे बालकों का मस्तिष्क तथा हृदय कोमल कोपलों के फूटने और सुरभित कुसुमों के खिलने-से उल्लसित होने वाले नवयौवन मे ही उनकी सुगध के स्थान पर दुर्गन्ध-युक्त कीचड़ से भर जाता है। आठ या दस वर्ष के बालक के चेहरे को देखने से कुछ पता नही चलता, परन्तु उसके बन्द हृदय-कपाट को खोलकर देखा जाय, तो अन्दर एक भट्ठी धधकती नजर आती है, जिसकी लपटों से—जो थोड़ी ही देर मे प्रचण्ड रूप धारण कर लेगी—वह बालक झुलसने वाला होता है। वह नहीं चाहता कि उसके 'भीतर' झाँका जाय। इसका विचार ही उसे कँपा देता है, नख से शिख तक हिला देता है।

वह जानता है, उसके भीतर कीचड़ की दलदल जमा हो रही है, भस्म कर देनेवाली आग सुलग रही है। किसी अज्ञात प्रेरणा से वह किसी को अपने अन्तःकरण में झाँकने नहीं देता—परन्तु फिर भी इकला बैठकर वह भीतर के इन्हीं छिपे हुए पर्दों को उठा-उठाकर उनकी झाँकियाँ लिया करता है, भीतर जमा किए 'गुप्त रहस्यों' को उलट-पलटकर देखा करता है!

हाय रे 'वे 'रहस्य'! वे गुप्त रहस्य ही तो बालक की आत्मा को चाट जाते हैं। प्रारम्भ में वह इन रहस्यों को समझना चाहता है। अपने दो-चार हमजोलियों से कुछ पूछता है, पर वे कनखियाँ चलाते और शैतान की हँसी हँस देते हैं। जो इन 'रहस्यों' को रहस्य न समझे, वह भोला; उसका मजाक उड़ता है: उसे उल्लू बनाया जाता है। चारों तरफ़ का समाज गन्दा है—अत्यन्त गन्दा। इन रहस्यों को रहस्य कहकर उन्हें दबाया नहीं जाता, मिटाया नहीं जाता, परन्तु अक़्ल को अँगूठा दिखा देनेवाले उपायों से, समाज की गोद में पलनेवाले हरएक बच्चे के गले के नीचे उतारा जाता है। वही भोला बालक, जो कुछ समय पहले रहस्यों से कोरा था, समय गुजरने पर यारों की महफ़िलों में 'छँटा हुआ' गिना जाता है। गुप्त बातें न जाने किस गुप्त रूप से उसके दिमाग़ को भर देती हैं। शान्त प्रकृति चञ्चल हो उठती है, आग में लपटें उठने लगती हैं, समुद्र में ज्वार आ जाता है।

समाज कहता है, यह विषय गोपनीय है। माता-पिता कहते हैं, चुप रहो, इस पर एक शब्द भी हमारे बेटे के कान में मत

डालो। अध्यापक लोग बालक को स्पष्ट रूप से कुछ नहीं कहना चाहते। बालक के हृदय मे प्रकृति की प्रत्येक वस्तु को देखकर उत्सुकता उत्पन्न होती है, इन 'गुप्त रहस्यों' के विषय मे भी उसे उत्सुकता सताने लगती है। परन्तु वह देखता है कि इस विषय की कोई बात भी उसके ओठों पर आने से पहले ही उसका गला घोट दिया जाता है। 'चुप रहो, आगे से इस बात को ज़बान से मत निकालो!'—चारों तरफ़ चुप्पी, चुप्पी! सब स्वाभाविक रास्ते बन्द देखकर बालक अपने रास्ते स्वयं निकाल लेता है। यह चुप्पी बोलने से भी ज़्यादा तबाही मचा देती है। माता-पिता के, अध्यापकों के, गुरुओं के बिना सिखाए बालक बहुत-कुछ सीख जाता है—थोड़े ही समय में इतना सीख जाता है, जिसे भुलाने के लिये एक जन्म तो क्या, कई जन्म भी काफ़ी नहीं हो सकते। वह जो कुछ सीख जाता है, उसे देखकर माता-पिता सिर धुनते हैं, गुरु लोग परेशान होते हैं, और उसका जीवन खिले हुए फूल की पंखड़ियों को मसल देने के समान मुरझा जाता है।

तो फिर, क्या यह विषय सचमुच गोपनीय है? क्या दोस्तों का खिल्ली उड़ाना, माता-पिताओं का आँखें दिखाकर घूरना, गुरुओं का मौन साध जाना—यह सब कुछ उचित है?

मैं तो नहीं समझ सकता कि इस विषय को इतना गोपनीय क्यों माना जाता है। अफ़सोस तो यह है कि इसे गोपनीय होने के साथ गन्दा भी समझा जाता है! हम लोगों की समझ में न जाने यह क्यों नहीं आता कि मानव-शरीर में जिस प्रकार

फफड़े, जिगर और पेट हैं, और उन्हें अपना-अपना काम करना होता है, उसी प्रकार मनुष्य-शरीर में उत्पादक अवयव भी हैं। मनुष्य के शारीरिक अंग सभी पवित्र हैं, सभी उपयोगी हैं, और प्रत्येक अंग के उचित उपयोग का ज्ञान प्रत्येक व्यक्ति के लिये आवश्यक है। इन अंगों को, और इनके सम्बन्ध में चर्चा को, गोपनीय तथा गन्दा इसीलिये समझा जाता है, क्योंकि दुश्चरित्र लोगों ने इन अंगों का दुरुपयोग किया है। शरीर के इन पवित्र अंगों के विषय में चर्चा करते ही उनकी स्मृति में विषय-वासना से सनी हुई तस्वीरें चक्कर काटने लगती हैं। उनकी विचार-धारा गन्द की नाली में वहा करती है। परन्तु क्या इस विषय की चर्चा सचमुच गन्दी चर्चा है? तो फिर, सृष्टि की अन्य वस्तुओं की चर्चा गन्दी चर्चा क्यों नहीं? ऐसे व्यक्तियों से पूछो कि वे आँख तथा कान की चर्चा करते हुए क्यों नहीं शर्म के मारे चुल्लू-भर पानी में डूब मरते, गुरुत्व तथा वर्षा के नियमों पर वहस करते हुए क्यों नहीं लजाते, क्यों वे शारीरिक पवित्रता के सम्बन्ध में कही गई उन बातों को, जिन्हें वे भूल से छिपी हुई समझते हैं, सुनकर सिर नीचा कर लेते हैं, उन्हें गन्दा कहते और उनसे अपनी सन्तान को बचाने की कोशिश करते हैं?

यदि नवयुवक इस चर्चा से कतई अनभिज्ञ हों, तो निस्सन्देह प्रश्न हो सकता है कि इन बातों के ज्ञान से कहीं भलाई के स्थान पर बुराई तो नहीं हो जायगी। परन्तु जब हम अपनी आँखों से नवयौवन की सरलता को उदीयमान प्रभात में ही ऐसा

हुआ देखते हैं, बचपन की सफ़ेद चादर को कल्पनातीत काले धब्बों से रँगा हुआ पाते हैं, तो सहसा मुख से निकल पड़ता है—'क्या इस चुप्पी से हम पाप के भागी तो नहीं बन रहे? कहीं ऐसा तो नहीं कि हमारा मौन लाखों निस्सहाय नवयुवकों को निराशा के अथाह गर्त में ढकेल दे और फिर उनके उद्धार की कोई आशा ही न रहे।' संसार के सम्पूर्ण विज्ञ-समुदाय का इस विषय में एक मत है। उत्पादक अंगों के सम्बन्ध में बालक कहीं-न-कहीं से ज्ञान पा ही जाता है। या तो उसकी दिनोंदिन बढ़ती हुई उत्सुकता को शुद्ध, पवित्र विचारों से शान्त कर दिया जाय, नहीं तो आदम और हौवा की सन्तान शैतान से सब-कुछ सीख ही सकती है! क्या ही अच्छा होता, यदि पशुओं की तरह मनुष्य को भी बिना सिखाए स्वयं ही इन विषयों का निसर्ग द्वारा ज्ञान होता। परन्तु मनुष्य और निसर्ग! नैसर्गिक ज्ञान होने का समय भी नहीं आता कि मनुष्य सब-कुछ सीख जाता है, और उसके सीखने का साधन सदा गन्दा—अत्यन्त गन्दा—होता है। वह बहुत-कुछ अपने आचार-भ्रष्ट साथियों से सीखता है, बहुत-कुछ समाज में चले हुए हँसी-मख़ौलों से सीखता है और बहुत-कुछ छापेख़ाने की मेहरबानी से दिनोंदिन बढ़ रहे अश्लील साहित्य से, अश्लील चित्रों से सीखता है।

यह नभोमण्डल न जाने कितने नवयुवकों के हृदय-वेधी आर्तनादों से व्याप्त हो रहा है। कितनों की पुकार आसमान को फाड़-फाड़कर उठ रही है—'हाय, क्या ही अच्छा होता, यदि

पहले कुछ पता लग गया होता !' जब से मेरी 'ब्रह्मचर्य'-विषयक पुस्तक नवयुवकों के हाथों में पहुंची है, तभी से लगातार मुझे पत्र आ रहे हैं। युवक-मंडली तरस रही है। मुझे पत्र आते हैं—'आपकी पुस्तक ने मुझे बचा लिया होता, यदि दो साल पहले यह मेरे हाथ पड़ गई होती।' मैंने ऐसे नवयुवकों को उत्तर देते हुए सदा यही लिखा है—'ऐ मेरे नौजवान दोस्त ! यदि तेरे वे दिन गुजर गए हैं, तेरे कंधों पर निराशा का बोझ लादकर सदा के लिये गुजर गए हैं, तो भी पल्ला झाड़कर उठ खड़ा हो—बीती को बिसार दे और आगे की चिंता कर। जीवन को नए सिरे से शुरू कर दे। याद रख—जो नई काया पलटना चाहते हैं, उनके लिये 'देर'-शब्द का कुछ अर्थ ही नहीं है। यदि तुझे पता लग गया है कि जीवन के इन आवश्यक नियमों के उल्लंघन का दुष्परिणाम क्या होता है, तो अपने अनुभव का सदुपयोग कर। यदि तू अभी चढ़ती जवानी में है, तो अपने से बड़ों के जीवन की पाठशाला में सीखे हुए अनुभवों से फायदा उठा। यदि ढलती जवानी का है तो दूसरों को फायदा पहुंचा। ये अनुभव अनमोल हैं।'

प्यारे नौजवान ! मानव-समाज के इन अनुभवों को मैं तुझ तक पहुंचाना चाहता हूं। इस पुस्तक में मनुष्य-जाति के ब्रह्मचर्य-विषयक अनुभवों का संदेश है। मैं इस उत्तरदायित्व-पूर्ण बोझ को हाथ न लगाता, यदि तेरे बड़े, तेरे माता-पिता और गुरुजन तेरे प्रति अपने कर्तव्य को समझते और हाथ में मशाल

लेकर तेरे जीवन-मार्ग में पड़ने वाले गढ़ों से तुझे सावधान कर देते। परन्तु अफसोस ! उन्हें इस काम के लिये न फुरसत ही है, न वे इसके महत्व को ही समझते हैं। प्रत्येक नवयुवक की जीवन-नौका संसार के अथाह समुद्र मे किसी अपरिचित तट की खोज मे चली जा रही है। मार्ग मे न जाने कितनी भयकर चट्टानें जिनकी एक ही टक्कर से नौका चकनाचूर हो सकती है, समुद्र के जल से ढकी हुई छिपे हुए सिरों को उठाए खड़ी हैं। मैं यह दृश्य अपनी आँखों से देख रहा हूँ, फिर क्यों न खतरे की घण्टी बजाकर ऊँघते माँझी को जगाने की कोशिश करूँ ? ऐ नाविक ? होशियारी से पतवार को पकड़े रह, कहीं आँधी तुझे रास्ते से भटका न दे; आँखे खोलकर अपनी किश्ती को खेए जा, कहीं समुद्र के गर्भ को चीरता हुआ नक्र तेरी नौका को निगल न ले; सावधानी से चप्पू चलाए जा, कहीं तेरी नौका चट्टानों से टकराकर टुकड़े-टुकड़े न हो जाय ! सावधान—इस संकटमयी यात्रा मे प्रतिक्षण सावधान ! यह यात्रा लम्बी है—बहुत लम्बी है—और समय उतनी ही जल्दी उड़ता चला जा रहा है। इस यात्रा मे तूने कहीं भी गलती की, तो देखना, तेरे प्रभु का रचा हुआ यह सारा खेल बना-बनाया बिगड़ जायगा।

द्वितीय अध्याय

प्रेम की खिलती हुई कलियाँ !

माता की स्नेहमयी मृदु पुचकार किसके रोम-रोम को पुलकित नहीं कर देती; प्यारी बहिन को देखकर किसका हृदय आनन्द के सोते में गोते नहीं खाने लगता, कहीं पर किसी अज्ञात व्यक्ति से चार आँखें होते ही किसे स्वर्गीय संगीतों की मधुर ध्वनि नहीं सुनाई पड़ने लगती ? इसी को 'प्रेम' कहते हैं !

प्रेम ! अहो, यह कैसा मीठा शब्द है । कवि और किसान, युवा और युवती—सभी ने इसकी मिठास में अपने को कभी-न-कभी भुलाया है । किस आत्मा में प्रेम की तड़पन न होगी, कौन-सा हृदय प्रेम के रसमय गूढ़ आलिंगन से वञ्चित रहना चाहेगा; कौन-सा अधर प्रेम के विह्वल चुम्बन के लिये अकुला न उठेगा । यह दो अक्षरों का छोटा-सा शब्द विश्व की असीम शक्ति को अपने अन्दर कैदकर बैठा हुआ है । यह एक अपूर्व जादू है । दो बरस का नन्हा-सा बालक इसी के बन्धन से खिचा हुआ, व्यावहारिक भाषा का एक शब्द भी न जानता हुआ, अपनी माता की रसभरी आँखों में से उसके अन्तःकरण तक पहुंच जाता है; प्रेमिका इसी की शब्द-रहित मौन भाषा में एक-एक चितवन से प्रेमी के चित्त-पटल पर बिजलियाँ चलाने लगती

है। प्रेम सीमाओं को लाँघ जाता है, दीवारों को तोड़ देता है, खाइयों को भर देता है—यहाँ तक कि अपनी तपाने और गलाने की शक्ति से विश्व की विविधता को मिटा देता, एकरसता का अखण्ड स्वर्गीय साम्राज्य पृथिवी पर स्थापित कर देता और जीवन को खोखले की जगह भरा हुआ, मुहताज की जगह समृद्ध तथा दुःखमय की जगह सुखमय बना देता है।

प्रेम-पुष्प की सुगन्ध मादकता लिए होती है। इसकी प्रथम कलिका का विकास ही कोमल वयस् के बालक को मत-वाला बना देता है। इस कमनीय फूल के बीजों को हृदय की उपजाऊ भूमि में बखेरने के लिये कोई देवदूत मौके की ताक में फिरा करता है, और अनुकूल ऋतु के आते ही प्रेम के बीज बो देता है। बस, नवयुवक अपने बीस साथियों में से किसी एक को अपने हृदय में चुनकर उसकी आराधना करने लगता है। अचानक उसे एक दिन साफ़-साफ़ मालूम हो जाता है कि वह स्कूल के अपने उस साथी की तरफ़ खिंच रहा है। स्कूल की छुट्टी का समय उसी के साथ बिताने को जी चाहता है। धीरे-धीरे ऐसी इच्छा उत्पन्न होने लगती है कि वह हर समय साथ रहे। उसके चेहरे मे एक अद्भुत आकर्षण रहता है, वह सुन्दर है! शरीर की सब शक्तियाँ उसी में केन्द्रित हो जाती है। उसे छोड़ने पर जी नहीं मानता। स्वप्न मे वही दिखाई देने लगता है. जागते हुए भी जब वह समीप न हो. तो उसी की प्रतिमा आँखों के सामने घूमती है। फिर जब कभी उससे कुछ देर के लिये

विछोह हो जाता है, तब अन्तरात्मा व्याकुल हो उठता है, मानो हृदय उसी को ढूँढ़ रहा हो, और उसके अचानक सामने आ जाने पर मनुष्य सहम-सा जाता है, मानो अपने को इस अधीरता के लिये धिक्कारना चाहता हो। उसके मुख से निकला हुआ एक-एक शब्द आत्मा में उल्लास की गुदगुदी-सी पैदा कर देता है, उसकी तिरस्कार-पूर्ण एक नज़र अधीर और पागल बना देती है, आशा की अन्तिम किरण को भी लुप्त कर देती है। युवक को मालूम हो जाता है कि वह अब अपने आत्मा का मालिक नहीं रहा। उसके आत्मा को किसी ने क़ाबू कर लिया है, क़ैद कर लिया है—वह आनखशिख प्रेम में डूब गया है!

योरप तथा अमेरिका में लड़के-लड़कियाँ एक ही स्कूल में पढ़ते हैं और उन्हें घरेलू जीवन में भी आपस में एक दूसरे के सम्पर्क में आने का मौक़ा बहुत काफी मिलता है। लड़का किसी सुन्दर लड़की से प्रेम करने लगता है, दिन-भर उसी के ध्यान में डूबा रहता है। भारत में सामाजिक बन्धनों के कारण लड़के-लड़कियाँ अलग-अलग स्कूलों में पढ़ते हैं, उन्हें परस्पर मिलने का अवसर प्राप्त नहीं होता, अतः यहाँ पर लड़का अपने साथियों में से किसी लड़के की तरफ ही खिंच जाता है, उसी पर अपने 'प्राण न्यौछावर' करने के लिये तैयार रहता है, उसे अपना 'अनन्यतम' कहने लगता है। परन्तु योरप तथा भारत के विद्यार्थियों के मनोभावों की यह विलक्षणता मौलिक नहीं है। लड़कों

का लड़कों से प्यार करना योरप तथा अमेरिका में भी कम नहीं है। वहाँ पर लड़कों को लड़कियों के साथ रहने का मौक़ा मिल जाता है, इसलिये लड़के-लड़कों की मैत्री वहाँ इतनी ज्यादा नहीं जितनी लड़के-लड़कियों की। लड़कों की आपस की यह घनिष्ठता प्रायः विवाह के बाद कम हो जाती है। प्रेम का यह साधारण-सा अभिनय प्रायः प्रत्येक बालक के विद्यार्थी-जीवन मे खेला जाता है; इस अभिनय मे मन की किञ्चिन्मात्र भी कलुषता के न होते हुए कई 'प्रेमी' बनते हैं, और कई 'प्रेमपात्र'! परन्तु स्कूल के लड़कों का यह नाटक कुछ ज्यादा दिनों तक नहीं चल सकता। भोले, निष्कलंक जीवन की लहरों पर बने हुए क्षणिक मनोभावों के बुदबुदे शीघ्र ही फूट जाते हैं—दो-ही-चार दिनों में पुरानी दोस्तियाँ टूटती और नई बनती हैं, और इसी प्रकार लड़कों और लड़कियों का बचपन का यह खेल चलता रहता है। क्यों पाठक! भोले-भोले बालकों और बालिकाओं का मज़ेदार शरारत से भरा हुआ यह खिलवाड़ देखने में कितना मीठा लगता है?

यदि यह खेल खेल ही रहे, और फिर टूट जाय, तो हँस देने के सिवा और कुछ करने या कहने की ज़रूरत न रहे। परन्तु कुछ ही दिनों के बाद लड़के खेल की अवस्था से आगे निकल जाते हैं। उनकी आयु ज्यों-ज्यों बढ़ने लगती है, त्यों-त्यों वे प्रेम के जादू मे ज्यादा फँसने लगते है। 'प्रे-म'—इस दो अक्षरों के शब्द मे उन्हें अचिन्तनीय, अवर्णनीय रहस्य दीख

पड़ने लगते हैं और इन रहस्यों के उद्घाटन के साथ-साथ उनके स्वच्छ, निष्कलंक मुखाकाश पर कृष्ण-वर्ण के मेघ मँडराने लगते हैं। सरस प्रेम, जिसमें से सरलता टपकती थी, नव-यौवन के सञ्चार से उद्भ्रान्त हो जाता है। वह 'बालक' का प्रेम नहीं रहता, 'युवक' का प्रेम हो जाता है, और इस प्रकार के दिशा-परिवर्तन का प्राकृतिक कारण है। वह क्या—सुनिए!

मनुष्य के मस्तिष्क के मुख्यतः दो भाग किए जा सकते हैं—अगला तथा पिछला। मस्तिष्क का अगला भाग 'बड़ा दिमाग़' (सैरिब्रम) कहाता है; और पिछला 'छोटा दिमाग़' (सैरिबेलम) कहाता है। 'बड़ा दिमाग़' हमारी खोपड़ी में सबसे अधिक स्थान घेरता है। यह आगे भौंहों के पास से चल-कर पीछे के उभरे हुए भाग तक फैला रहता है। यह दो अर्धवृत्तों में बँटा रहता है—दाएँ ओर तथा बाएँ ओर। दोनों हिस्सों में, किसी के ज्यादा और किसी के कम, दराड़ें बनी रहती हैं। बड़े दिमाग़ के कुछ नीचे, गले के कुछ ऊपर, पीछे की ओर, 'छोटा दिमाग़' एक कान से दूसरे कान तक फैला रहता है। यह भी बाएँ तथा दाएँ दो अर्धवृत्तों में बँटकर मेरुदण्ड जहाँ से शुरू होता है, वहाँ उसके इर्द-गिर्द लिपटा रहता है। इसमें भी दराड़ें बनी होती हैं। ये दराड़ें दिमाग़ को भिन्न-भिन्न भागों में बाँटती हैं और इनकी गहराई दिमाग़ की ज्ञान की शक्ति को सूचित करती है। दोनों दिमाग़ मनुष्य की खोपड़ी में सुरक्षित रहते हैं, जिसमें उन्हें फैलने के लिये पर्याप्त स्थान मिलता है। बड़ा

दिमाग़, आत्मा के शरीर में होने पर, पञ्चज्ञानेन्द्रियों के अनुभव किए हुए विषयों का साक्षात्कार करता है, अथवा उनके अनुभव को सविकल्पक ज्ञान बना देता है। आँख देखती है, कान सुनता है, नाक सूँघती है, जिह्वा रस लेती है, त्वचा स्पर्श करती है—परन्तु यदि ज्ञान-तन्तुओं द्वारा इन इन्द्रियों के अनुभव बड़े दिमाग़ तक न पहुँचें, तो किसी प्रकार का प्रत्यक्ष न हो। इसीलिये इन्द्रिय-ज्ञान का केन्द्र 'बड़ा दिमाग़' माना गया है। 'छोटा दिमाग़' घरेलू—गृह-सम्बन्धी—प्रवृत्तियों का तथा शरीर की भिन्न-भिन्न हरकतों को वश में रखने का काम करता है। इसी से पट्ठों की गति का नियमन, शरीर का नियन्त्रण तथा माता-पिता और कुटुम्बियों के प्रति थोड़े या बहुत प्रेम का सञ्चालन होता है। यदि छोटे दिमाग़ को किसी प्रकार की हानि पहुँच जाय, तो मनुष्य अपनी शारीरिक हरकतों को वश में नहीं रख सकता और चलते-फिरते आगे-पीछे गिरने तथा डगमगाने लगता है। मादक पदार्थों का सेवन प्रायः छोटे दिमाग़ को ही प्रभावित करता है, इसीलिये शराबी अपनी गति को स्थिर नहीं रख सकता। प्रेम के भावों का सम्बन्ध भी इसी दिमाग़ से है, इसीलिये प्रेम के उन्माद में मनुष्य की अवस्था शराबी से किसी प्रकार अच्छी नहीं रहती। इस प्रकरण में हमें छोटे दिमाग़ पर ही विशेष ध्यान देना है।

छोटे दिमाग़ के, जैसा अभी कहा गया, दो काम हैं—

(१) यह सांसारिक प्रवृत्तियों का केन्द्र है। प्रेम-भाव, समाज-प्रेम, दाम्पत्य-स्नेह, वात्सल्य-भाव, मैत्री-भाव, गृह-निवासेच्छा,

तत्परायणता—सभी का सञ्चालन इसी से होता है। और, (२) इसका काम शरीर की भिन्न-भिन्न गतियों को वश में करना, उन्हें सीमित तथा नियन्त्रित रखना भी है। चलना, फिरना, बैठना, उठना, खड़े रहना, हाथ घुमाना, उँगलियाँ चलाना, उड़ना—इन सबका सञ्चालन भी इसी से होता है।

बचपन में छोटा दिमाग़ सारे दिमाग़ का बीसवाँ हिस्सा होता है, परन्तु २५ वर्ष की अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते यह बढ़कर सारे दिमाग़ का सातवाँ हिस्सा हो जाता है।

जिस समय छोटा दिमाग़ बढ़ने लगता है, उस अवस्था को कुमारावस्था कहते हैं। 'कुमार'-शब्द का अर्थ है—'कुत्सित है मार जिसके लिये'—अर्थात् जिस अवस्था में काम-वासना बालक के जीवन को नष्ट कर सकती है! छोटे दिमाग़ के बढ़ने का नतीजा यह होता है कि जीवन में मार-शक्ति—काम-शक्ति—का सञ्चार होने लगता है। प्रेम की कलियाँ फूट पड़ती हैं, जीवन के रहस्यों, जीवन की गोपनीय बातों की तरफ़ कुमार तथा कुमारी का ध्यान अधिक आकर्षित होने लगता है। उस समय जीवन की जो अवस्था हो जाती है, भला वह किसी से छिपी है? इस सूखे जीवन में नवीन रस की लहरें उमड़ पड़ती हैं। ख़ून जोश मारने लगता है। नस-नस एक अपूर्व शक्ति के सञ्चार से फड़कने लगती है। मनुष्य हवा में उड़ने लगता है। वह अपने को एक नई ही दुनिया में पाता है। जवानी की शराब के वह प्याले पर प्याले चढ़ाने लगता है। ऐसा मज़ा उसे पहले

कभी न आया था, ऐसा स्वाद उसने पहले न चखा था। उस पर मस्ती छा जाती है और इस मस्ती के प्याले में भरी जवानी की शराब को वह बड़े-बड़े घूँट भरकर पीने लगता है। थोड़ी ही देर में वह नशे से चूर हो जाता है, पागल हो जाता है!

कुमारावस्था की यह छोटी-सी कहानी है। पन्द्रह-सोलह वर्ष के किशोर के जीवन में जवानी के छिपे हुए रहस्य उथल-पुथल मचा देते हैं। काम-भाव की प्रथम जागृति अमृतमय भगवान् के पुत्रों तथा पुत्रियों के हृदयों में आँधी खड़ी कर देती है, और यदि इस वासना के घोड़े को संयम की लगाम से न कसा जाय, तो यह आँधी बढ़ती-बढ़ती तूफ़ान का रूप धारण कर लेती है, इसके सम्मुख जो कुछ आता है, उसी को उड़ा ले जाती है। क्या धनी क्या निर्धन, क्या लड़का क्या लड़की, प्रलय मचा देने-वाला काम-वासना का तूफ़ान जब एक बार भी उठ खड़ा होता है, तब चारों तरफ़ सर्वनाश के चिह्न दिखाई देने लगते हैं— अँधेरा, गर्द और बीमारी के सिवा पीछे कुछ नहीं बचता। जब तूफ़ान निकल जाता है, तब मृत्यु की शान्तमुद्रा जीवन पर एकाधिपत्य जमा लेती है।

कुमारावस्था में जीवन-रस बनना प्रारम्भ होता है। बचपन से निकलकर किशोर बनते ही बालक के रुधिर में इस जीवनी-शक्ति का सञ्चार होता है। यदि यह जीवन-रस शरीर में खपा लिया जाय, तो पट्ठे मज़बूत होते हैं, स्नायुओं में शक्ति भर जाती है, शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक गुणों का विकास

होने लगता है; परन्तु यदि इस जीवन-रस का ह्रास हो जाय तो जीवन शक्ति-हीन हो जाता है, भार बन जाता है! जीवन-रस पर मन का तात्कालिक प्रभाव पड़ता है। शरीर के पट्ठों को मज़बूत करने की सोचते रहो, तो यह रस उधर ही को गतिशील हो जायगा, उच्च मानसिक विचारों में दिन-रात विचरण करो, तो यह शक्ति दिमाग़ को पुष्ट करने में लग जायगी। इस जीवन-रस को 'वीर्य' कहते हैं, 'रेतस्' कहते हैं। शास्त्रों में 'ऊर्ध्वरेता' उसे कहा गया है, जिसका वीर्य कभी स्खलित नहीं होता। आदित्य ब्रह्मचारी का जीवन-बिन्दु नीचे की तरफ़ नहीं जाता। वह ऊपर ही ऊपर—मस्तिष्क की तरफ़—अपना मार्ग बनाता है। वेदों तथा उपनिषदों का यही आदर्श है। ब्रह्मचारी का आत्मा सदा परमात्मा में विचरता है, और वह अपने जीवन-रस को आध्यात्मिकता के केन्द्र—मस्तिष्क—की तरफ़ ही प्रवाहित करता है।

मनुष्य की मानसिक शक्ति यदि शरीर के गठन पर लगी रहे, तो वीर्य शरीर को वीर्यशाली बना देता है, यदि मानसिक शक्ति की सहायता से वीर्य को स्मृति-शक्ति के बढ़ाने में लगाया जाय, तो स्मरण-शक्ति वीर्यशालिनी बन जाती है, और यदि इस मानसिक शक्ति का उपयोग काम-वासना को उत्तेजित करने के लिये किया जाय, तो काम-वासना भड़क उठती है—ऐसी भड़क उठती है कि मनुष्य वासनामय हो जाता है। छोटे बालक में जब काम की प्रवृत्ति इस प्रकार जाग उठती है, तो वह पाल में दबाए फल की तरह ज़ल्दी पक जाता है; धीमे-धीमे प्रदीप्त होने

वाले प्रेम के दीये में धमाके से आग भभक उठती है; प्रेम का मीठापन वासना के तीखेपन में बदल जाता है; छोटी उम्र में ही बालक बड़ों की-सी बातें करने लगता है। माता-पिता उसके इस अपूर्व बुद्धि-कौशल को देखकर अचरज करते, शायद कभी-कभी अपने ही को सराहते हैं, उनकी समझ में नहीं आता, लड़का इतनी छोटी उम्र में इतना सयाना कैसे हो गया। उन्हें क्या मालूम, लड़के ने अपने सयानेपन के लिये गुरु धार लिए हैं—वह रोज गलियों मे फिरकर उन गुरुओं से शिक्षा-दीक्षा लिया करता है। वह कई बातों में असाधारण उत्साह दिखाने लगता, कई बातों से न जाने क्यों शर्माने लगता है। इस समय बालक के मस्तिष्क में प्रविष्ट होकर कोई देख सके, तो उसे पता चल जाय कि किन रहस्यों की गुत्थियों को सुलझाने में वह दिन-रात एक किए रहता है। उसके मन की सम्पूर्ण शक्ति कामुकता के संस्कारों को जगाती और उन्हीं में खेला करती है। उसका छोटा मस्तिष्क, जिसका पूर्ण विकास २५ या ३० वर्ष तक की आयु में होना चाहिए था, अभी से—दस-बारह वर्ष की आयु से—बढ़ने लग गया है और दिनोंदिन बड़ी तेजी से बढ़ता चला जा रहा है। अभी वह पढ़ना-लिखना बहुत कम सीख पाया है, इसलिये अश्लील नाटकों तथा उपन्यासों से वह कुछ-कुछ बचा रहता है, परन्तु गन्दे साथियों से उसे बचाने वाला कोई नहीं है। जिस समय उसका मस्तिष्क गन्दे संस्कारों से पोषण पा रहा होता है, उसी समय सकील खाना, मिठाई, खटाई, अचार, चाय,

काफ़ी और दूसरी गन्दी आदतें मिलकर हमारी वर्तमान अवस्था की समाज में पलनेवाले लड़के-लड़की की कामाग्नि को भड़काने में घी की आहुति-का काम करती हैं। मनुष्य का वसन्तमय बचपन का जीवन ज्यों ही पल्लवित तथा पुष्पित होने लगता है, त्यों ही कोई आततायी आकर इस सुन्दर पौदे को जड़ से उखेड डालता है। वह दुष्ट उस दिन की भी प्रतीक्षा नहीं करता, जब यह पौदा बड़ा होगा, इसमें कलियाँ लगेंगी, फूल खिलेंगे और सारा उद्यान उनकी स्वर्गोपम सुगन्ध से महक उठेगा, उनके भाँति-भाँति के रंगों से चमक जायगा। अफसोस! इस पौदे की रक्षा करनेवाला कोई माली नहीं दिखाई देता। माली हैं—परन्तु ऐसे माली, जो इसके स्वाभाविक विकास को नहीं देख सकते, इसे जड़ से खींचकर एकदम बड़ा करना चाहते हैं, इसकी कलियों को अपने कठोर हाथों से खोल-खोलकर उन्हें खिलाना चाहते हैं। इसका परिणाम? ओह! इसका भयंकर परिणाम!! पौदे का तना टूट जाता है, उसकी कोपलें और कलियाँ कुम्हला जाती हैं। बालक का यौवन नष्ट हो जाता है, और 'सर्वनाश' आँखें फाड़-फाड़कर उसके हृदय को कँपाने लगता है!

कुसंस्कारों से 'छोटा दिमाग़' अपना काम जल्दी-जल्दी करने लगता है। बालक बचपन में ही आदमियों की-सी बातें करने लगता है। जो बच्चे 'गुह्य-रहस्यों' की अनुचित चर्चा करते रहते हैं, वे जल्दी सयाने हो जाते हैं। वे इन चर्चाओं के शिकार

बन-जाते हैं। ऐसे ही बच्चे हस्त-मैथुन, भ्रष्टाचार तथा अन्य गर्हित कृत्यों की धधकती हुई आग में बलि चढ़ जाते हैं। बाल-विवाह भी उनकी अशान्त आत्मा को ठण्ड नहीं पहुंचा सकता। अरे भोलेभाले माता-पिताओ! यह 'रहस्य'-रूपी राक्षस तुम्हारी असहाय सन्तानों को ग्रास की तरह निगलता चला जा रहा है, उन्हें बचाओ। शायद तुम अपने 'बालक' को इतनी जल्दी 'मनुष्य' बनते देख खुश होते हो, उसे बारह वर्ष की उम्र में पचीस बरस के आदमी की तरह बातें करते देख दिल मे फूले नहीं समाते हो, परन्तु याद रक्खो, यह तुम्हारी मूर्खता है। तुम्हारे सुकुमार बालक की आँखों के पीछे से झाँकनेवाला 'मनुष्य' मनुष्य नहीं, 'राक्षस' है—आशु-परिपक्वता का राक्षस है—जो उसे हड़प जायगा, उसके जीवन को नष्ट कर देगा।

मैं चाहता हूँ, यह पुस्तक बालकों के हाथ मे पहुंचे। मैं एक-एक अक्षर इस भावना से लिख रहा हूं, जिससे बालकों को अपने कण्टकाकीर्ण मार्ग में पगडण्डी निकाल लेने का साहस हो जाय, अँधेरे में भी अपने लिये उजेला कर लेने की उनमें शक्ति आ जाय। मेरे हृदय मे कितनी प्रबल आकांक्षा है कि हर समय यह पुस्तक किसी-न-किसी बालक के हाथ में अवश्य हो। अरे बालक! इस बातचीत का तेरे जीवन के साथ अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। सुन, यदि सँभलना चाहता है, तो सुन! जैसा मैं पहले लिख चुका हूँ, तू और तेरे जैसे दूसरे साथी लड़कपन में किसी की दोस्ती मे फँस जाते हैं।

जायगा। अपने जीवन की रक्षा कर, और उस निर्दोष आत्मा की भी रक्षा कर, जिसे तू अपनी कामाग्नि का पतंगा बनाकर भस्म करना चाहता है।

परन्तु सम्भव है, इन पंक्तियों का पढ़नेवाला 'शिकारी' न हो, 'शिकार' हो; डसनेवाला न हो, डसा गया हो! अरे बालक! यदि तू उन हतभागों में से है, जिन पर कई बेवक़ूफ़ों की ज़िन्दगी और मौत निर्भर रहा करती है, तो भी तुझे होशियार रहने की ज़रूरत है। वे अक़्ल के दुश्मन तेरी गोरी-गोरी चमकती चमड़ी पर मरते हैं; आसमान में तारों की तरह झिलमिल करती तेरी बड़ी-बड़ी आँखों पर जान देते हैं; चाँद को शर्मा देनेवाले तेरे गुलाबी गालों पर लट्टू होते हैं—यह सच है, इसे छिपाने की ज़रूरत नहीं। तेरे जिस्म के चोले की चटक-मटक से खिंचे हुए वे तेरे चारों ओर ऐसे मन्डराने लगते हैं, जैसे फूल पर भौंरे। वे तुझे कहते हैं कि तेरे विना वे क्षण-भर भी नहीं जी सकते, पर याद रख, वे सब चोर हैं, डाकू हैं, लुटेरे हैं। परमात्मा ने अपनी उदारता से सौन्दर्य का जो गहना तुझे पहनाया है, उसी को चुराने के लिये वे तेरे इर्द-गिर्द फिरते हैं! अरे मूर्ख! अपने ऊपर रहम खा, इन लुटेरों के चंगुल में मत फँस। शिकारी तुझे फँसाने के लिये बनावटी प्रेम का टुकड़ा फेंक रहे हैं—तू ललचाया नहीं और जाल में फँसा नहीं। परमात्मा ने तुझ पर सौन्दर्य की बौछार कर दी है, परन्तु इस अपूर्व धन को पाकर ज़रा डर, क्योंकि सौन्दर्य का होना घर में सुवर्ण के होने के

समान है। इस सोने को देखकर, चोर और लुटेरे, जिस समय तू बेख़बर होगा, उस समय तुझ पर टूट पड़ेंगे; तुझे लूट ले जायँगे; इसमें सन्देह नहीं कि वे अपनी जान को ख़तरे में डालेंगे, परन्तु तेरा तो सर्वनाश ही हो जायगा। जिस समय तेरा धन तेरे पास है, उस समय उसकी रक्षा कर, क्योंकि यह ऐसा धन है, जो जब एक बार लुट जाता है, तो दर-दर भीख मँगवाकर ही छोड़ता है।

अरे दिल लुभानेवाले ख़ूबसूरत फूल! मत समझ कि ये तितलियाँ जो पंख फड़फड़ाकर तेरी परिक्रमा कर रही हैं, अनन्त काल तक इसी तरह तेरे सौन्दर्य के गीत गाती जायँगी। जब तक तेरे मधु की अन्तिम बूँद ख़त्म नहीं हो जाती, तब तक ये तेरा रस चूसती चली जायँगी। और फिर,—फिर क्या? फिर वे दूसरे फूल पर मँडराने लगेंगी, और तू मुरझाकर मिट्टी मे मिल जायगा। ऐ नौजवान! उस फूल को देख; उस फूल के मधु को देख; उसके मुरझाए हुए धूल में मिल रहे पखड़ियों के टुकड़ों को देख! धूल मे एँड़ियों के नीचे कुचले जा रहे फूल की 'आह' में तेरे जीवन के लिये मर्म-भेदी सन्देश भरे हुए हैं!

जो लड़के पढ़ना-लिखना नहीं सीखते, वे दूसरी तरह से ख़राब होते रहते हैं; जो पढ़ने-लिखने लगते हैं, वे कई तरह की बेहूदा बातें लिखना भी सीख जाते हैं। वे ख़त लिखते हैं और इन बेहूदा ख़तों का नाम 'प्रेम-पत्र' रक्खा जाता

है। सम्भवतः यह उस दूषित शिक्षा-प्रणाली का परिणाम है, जो हमारे बच्चों को वर्तमान स्कूलों में दी जाती है। जब तक बालक भली भाँति पढ़ना-लिखना नहीं सीख जाते, तब तक उनके जीवन का यह पहलू सोया रहता है। अक्षरों का ज्ञान होते ही उन्हें अपने मनोभावों को प्रकट करने का एक नया रास्ता सूझ जाता है। बारह वर्ष की छोटी सी उम्र में भी लड़के इस तरह के बेहूदा ख़त लिखने में व्यग्र देखे गए हैं। १६ से २५ वर्ष की उम्र के भीतर यह प्रवृत्ति अपने उच्च शिखर पर पहुँच जाती है। इस समय प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह कितना ही फीका क्यों न लगता हो, रसीला हो जाता है, और अखिल विश्व को अपने हृदय के अनथक संगीत से भर देना चाहता है। संसार के सुख-दुःख, सफलता-असफलता, आशा-निराशा, चहल-पहल—सबके मिश्रण से नवयुवक का हृदय कभी मीठी, कभी कड़ुई तानों में झनक उठता है। नव-यौवन के उन्माद में वह मत्त हो जाता है—उसके श्वास-श्वास से 'प्रेम'-सने पत्र और प्रेम के रस में भीनी कविताएँ निकलती हैं। एक ओर प्रेम के भावों की हृदय में इस प्रकार बाढ़ आ रही होती है, दूसरी ओर वही समय युवक के चरित्र-निर्माण का होता है। यदि मनुष्य के भावों को इस समय काबू किया जा सके, उसे सन्मार्ग दिखाया जा सके, तो वह क्या से क्या न बन जाय? इस समय बनते हुए चरित्र को ऐसा झुकाव दिया जा सकता है, जिससे वह कवि, चित्रकार, साहित्य-सेवी, वैज्ञानिक, दार्शनिक—जो कुछ चाहे, बन सकता

है, परन्तु इस सुअवसर से लाभ उठानेवाले ही कितने हैं और कहां हैं यह अपूर्व अवसर जब कि युवक के मस्तिष्क पर मनमाने छाप लगाई जा सकती है, हममें से सबके पास, एक-एक के पास, कभी-न-कभी जरूर आता है। परन्तु यह अवसर एक ही बार आता है, और यदि उस समय इसका तिरस्कार कर दिया जाय, तो फिर लौटकर नहीं आता। कालिजों में पढ़नेवाले कई लड़के शिकायत किया करते हैं कि वे अब उतने तेज़ नहीं रहे, जितने वे पहले स्कूल के दिनों में थे। और, हो भी कैसे सकते हैं, जब कि उन्होंने एक सुवर्ण-अवसर को अपने हाथों ही खो दिया। यदि वे ज़रा भी अक्ल से काम लेते, तो अपने समय का अधिकांश भाग बेहूदा प्रेम-पत्रों और प्रेम-कविताओं के लिखने में न खाते। जो घण्टे उन्होंने किसी 'प्रेम-कविता' के पद्य को मन-ही-मन गुनगुनाने में, आसमानी और हवाई बातों को असली समझकर उनके पीछे बेतहाशा दौड़ने में खर्च किए, उससे उनकी मानसिक शक्ति बढ़ने के स्थान पर घटी, इसका उन्हें परिज्ञान नहीं; जो शक्ति उन्होंने अपनी कल्पना के फूल तोड़कर किसी प्रेम-पत्र के एक-एक अक्षर और एक-एक शब्द के सिंगार करने में व्यय की, उससे उनके शरीर को बढ़ती रुकी, मन और आत्मा का विकास बन्द हो गया, यह भी उन्हें मालूम नहीं। किस्से-कहानियों में अंकित जीवन बड़ा मीठा मालूम होता है, उसी को जब कल्पनाओं में चित्रित किया जाय, तब और भी मीठा मालूम पड़ने लगता है, परन्तु कल्पना, स्वप्न, तस्वीर

और कहानी में दिखाई देनेवाला जीवन वास्तविक जीवन नहीं है। नवयुवक प्रायः अपने कल्पित स्वर्ग-लोक में विचरा करता है। अचानक किसी दिन कल्पना का जादू उतर जाता है और वह ग़रीब इसी नीरस मर्त्यलोक में आ टपकता है और अपने ही जैसे भग्न-स्वप्न जीवों को चारों तरफ़ पाता है। रात्रि की प्रशान्त मोह-निद्रा में उसे वह भयंकर चेतावनी की आवाज़ सुनाई पड़ने लगती है, जो पहले भी आत्मा के अन्ततम प्रदेश में से सदा उठा करती थी, कभी मूक नहीं हुई थी, परंतु फिर भी कभी सुनाई नहीं दी थी!

परन्तु क्या इन पंक्तियों का यह अभिप्राय है कि मैं प्रेम की कलियों को उनके प्रथम विकास में ही मसल देने का पाठ पढ़ा रहा हूँ, ताकि इस दुःखमय संसार में बहनेवाला पवन उनकी मधुर मुस्कान को लेकर किसी भी दर्द भरे दिल की जलन को दूर न कर सके? क्या मेरा यह तात्पर्य है कि हृदय में उठती हुई प्रेम की ज्वाला को संसार की असारता के विचार-रूपी जल के छींटों से बुझा दिया जाय? नहीं—कभी नहीं! मैं इस बात को ख़ूब समझता हूँ कि प्रेम ही जीवन है, प्रेम ही चलते-फिरते मनुष्य की सञ्जीवनी-शक्ति है, प्रेम अखिल विश्व की स्थिति का कारण है। प्रेम के बिना हृदय के टुकड़े-टुकड़े हो जायँ, आत्मा नीरसता के कारण जड़ हो जाय, अविरत चलनेवाला विश्व-संगीत एकदम स्तब्ध हो जाय। प्रेम ही सृष्टि के आदि में विकीर्ण जगत् के प्रथम-अणु में उत्पादन की अदम्य शक्ति का संचार करता है।

कलकत्ता के अस्पताल में एक बेहोश महिला लाई गई। उसका

चार वर्ष का बच्चा खो गया था। वह उसे ढूँढ़ती हुई रेल की सड़क को पार कर रही थी कि इतने में रेलगाड़ी की टक्कर से चोट खाकर गिर पड़ी और बेहोश हो गई। उसकी नाड़ी बन्द हो गई, हृदय के भीतर गति न रही, परन्तु उसकी संज्ञा-हीन आँखें अपने खोये बच्चे की तलाश में बेहोशी में भी व्याकुल हो रही थीं। डाक्टरों ने कहा कि उस बेहोशी की हालत में भी, जब हृदय और नाड़ी ने गति करना छोड़ दिया था, केवल बच्चे के प्रेम ने उसे जीवित रक्खा। कुछ देर बाद उसके हृदय में फिर से गति पैदा हो गई। प्रेम ने मरते हुए को मरने न दिया और दृश्यमान मृत्यु में भी जीवन को क़ायम रक्खा। क्या इस प्रेम के विरुद्ध मेरे मुख से एक भी शब्द निकल सकता है? मैं खूब समझता हूँ कि यदि प्रेम न रहे, तो जीवन जीने लायक ही न रहे।

कोमल-हृदया माता अपनी सन्तान के माथे पर चुम्बनों की बौछार कर देती है—उस दैवीय प्रेम के विरुद्ध एक अक्षर भी मुँह से निकलना घोर पाप है। ओह! माता का ध्यान कितनी छिपी हुई, सोई हुई, प्यारी-प्यारी स्मृतियों को जगा देता है। उसी की प्रेममयी गोद में, उसकी कोमल बाहों में पड़े-पड़े, स्वर्ग के झरने बहानेवाली उसकी आँखों की तरफ देखते-देखते हमने कई साल विताये। उसी की संरक्षा में पलते हुए हमने संसार की तरफ एक अपूर्व कौतूहल से झाँकना शुरू किया, कुछ थोड़ा-बहुत सीखा और आदमी बने। क्या उसका प्रेम भुलाया जा सकता है? कभी नहीं—सौ बार नहीं! दूरी इसे कम नहीं कर सकती, समय

इसे मिटा नहीं सकता। पाप के पंक में निमग्न या दुःख के समुद्र में डूबते किसी भी मनुष्य को माता की प्रतिमा का ध्यान संभाल सकता है, बचा सकता है। वे अभागे कितने कृतघ्न हैं, जिनके घृणित कृत्यों को देखकर उन्हें गोद में खिलानेवाली जननी की आंखें उबलते हुए गर्म-गर्म आंसुओं से एक बार भी डबडबा जाती हैं! क्या उस माता के प्रेम को, उसके मोह को, किसी प्रकार भी छोड़ा जा सकता है!

माता तो माता ही ठहरी, भाई भी कितने प्यारे होते हैं, बहिन का प्यार भी कितना मीठा होता है। यह प्रेम नहीं, अन्तरिक्ष से उतरी हुई पवित्रता की गंगा है, जिसमें भाई-भाई और भाई-बहिन एक दूसरे को गोते देते हैं, खेलते हैं और प्यार करते हैं। जितना ही इस प्रेम को बढ़ाकर विकसित किया जाय, और विकसित करते-करते उस ऊँची सतह तक पहुँचा दिया जाय, जहां विश्व के अखिल प्राणी, परमात्मा के सब अमृत-पुत्र एक बड़े परिवार में समझे जाते हैं, उतना ही यह प्रेम अपने विशुद्ध रूप में प्रकट होता है, सार्थक होता है। यह प्रेम जिसके हृदय में है, वह भाग्यशाली है, और जिसके हृदय में नहीं है, उसे इसकी जड़ अभी से जमाने का दृढ़ संकल्प करना चाहिये, क्योंकि इसी प्रेम के अभाव से आज हम जाति रूप से संसार की सभ्य जातियों से पिछड़े हुए हैं और अपने को जबानी जमा-खर्च में आध्यात्मिक कहते हैं, परन्तु आध्यात्मिकता के उस प्रेम से जो मनुष्य-मात्र को एक परिवार का अंग बना देता है कोरे हैं।

पति-पत्नी का प्रेम भी मनुष्य को दी हुई ईश्वर की कृपाओं में से एक है। भगवान् के चलाए हुए नियमों से, वे दोनों, न जाने कहाँ-कहाँ पैदा होकर और पलकर कहाँ आ मिले हैं। वे दोनों जीवन-मार्ग के पथिक हैं, आपस में एक दूसरे के सहारे हैं। आपस के दोषों को दूर करते हुए, कमियों को पूरते हुए जीवन-यात्रा को प्रेम-पूर्वक निभाना उनका कर्तव्य है। पति-पत्नी के प्रेम की कामना जब अत्यन्त उत्कट हो जाती है, वे पारस्परिक भिन्नता को मिटाकर दो से एक हो जाते हैं, तभी दोनों के पवित्र आध्यात्मिक मिलन में, अखण्ड ज्योति के भण्डार भगवान् के स्फुलिंगों का चौंधिया देनेवाला प्रकाश अन्धकार के आवरण को फाड़कर आत्मा को आलोकित कर देता है। यह प्रेम एक अमूल्य देन है।

प्रेम मित्रता के रूप में भी प्रकट होता है। समाज में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के सम्पर्क में आकर हमारे हृदय में भिन्न-भिन्न भाव उत्पन्न होते हैं। किसी को देखकर घृणा, किसी को देखकर आकर्षण, किसी को देखकर ऐसा मानो जन्म-जन्मान्तरों का परिचित अपने ही परिवार का अंग! यदि तुम्हारी मित्रता के आधार में वह प्रेम है, जिसे एक आत्मा की दूसरे आत्मा के प्रति प्यास कहा जा सके, जिसके द्वारा तुम्हारे हृदय में ऊँची-ऊँची उमंगें उठ खड़ी हों, जो तुम्हें धर्म तथा सचाई के मार्ग पर कदम बढ़ाने के लिये प्रेरित कर सके और पाप तथा दुष्प्रवृत्ति के अन्धकार को भगाने के लिये प्रकाश की किरण बन

सके, तो निस्सन्देह, तुम्हारा प्रेम एक मशाल है, जो उस आग की चिनगारी से जलाई गई है, जो प्रकाशस्तम्भ के रूप से खड़ी हुई तुम्हारे अन्तिम लक्ष्य की तरफ तुम्हें बुला रही है और स्वयं आगे बढ़ती हुई तुम्हें भी उसी तरफ ले जा रही है। अरे यात्री! तू बढ़ा चल, इस प्रेम की ज्योति को अपना आसरा बनाकर आगे, बेखटके, बढ़ा चल—तू जहाँ जाना है, वहीं पहुँचेगा।

सिसरो का कथन है कि सच्ची मैत्री उन्हीं में हो सकती है, जो सदाचार के परम पुनीत भावों से प्रेरित होकर, आपस में एक दूसरे की इज्जत को समझते हुए एक दूसरे की तरफ झुकते हैं। सदाचार से उसका अभिप्राय हवाई बातों से नहीं है। दुनिया में आदर्श पूर्ण-रूप से कहीं भी घटता हुआ दिखाई नहीं देता, परन्तु वह जहाँ तक आचरण में घट सकता है, उतना जब तक न घटाया जाय, तब तक केवल बातों के आधार पर अपने को सदाचारी कहने का किसी को अधिकार नहीं है। सदाचारियों की मैत्री—अहा!—असली मैत्री तो होती ही सदाचारियों में है। 'पुण्य' की सुन्दरता जिसने देखी, उसने असली, कभी न मिटने-वाली सुन्दरता देखी, क्योंकि इसके समान सुन्दर, इसके समान मोहनेवाली वस्तु दुनिया में दूसरी नहीं। पवित्रता, सच्चाई, सादगी, ईमानदारी में ही तो सौन्दर्य है। राम और कृष्ण को किसने देखा था? परन्तु क्या, इतनी सदियों के बीत जाने पर भी, कोई हिन्दू-हृदय है, जो इनके नाम को सुनते ही प्रेम से भर नहीं जाता, अभिमान से फूल नहीं उठता? इनकी कथा को सुनते

जाते हैं और श्रोताओं की आँखों से प्रेम के अश्रु-बिन्दु टपकते जाते हैं। उनकी जीवन-कथाओं में बिखरी हुई घटनाएँ कैसी प्यारी हैं, कैसी सुन्दर हैं! क्या यह प्रेम राम और कृष्ण की मूर्तियों से है? अरे, उनकी मूर्तियों को किसने देखा है। असल में, सौन्दर्य का अवतरण 'पुण्य' तथा 'सदाचार' के देह में होता है!

प्रेमी-हृदय की गहराई न किसी ने नापी, न वह नापी गई। पवित्र प्रेम अपने प्रारम्भ के दिन से, जो वास्तव में इसका पिछले जन्म के छोड़े हुए सूत्र को इस जन्म में फिर से पकड़ने का दिन होता है, गहरा होने लगता है, और अनन्त काल तक गहरा ही गहरा होता चला जाता है। इसमें क्षण-भर के लिये भी बनावट नहीं आ सकती, क्योंकि जिस क्षण इसमें बनावट ने प्रवेश किया, उसी क्षण इसकी पेंदी नजर आने लगी। जिस भाव का उद्गम तुच्छता और ओछेपन में हो, वह कब तक जिन्दा रह सकता है?

प्रेम एक खरा मोती है, जिसे जौहरी पहचान लेता है—पर खोटे बनावटी मोतियों की भी तो यहाँ कमी नहीं। 'लोभ' को और 'काम' को, 'प्रेम' का नाम देकर दुनियाँ को, और अपने को धोखा देनेवालों की कमी नहीं है। रुपये, समृद्धि और भाग्य को देखकर कई प्रेमी उत्पन्न हो जाते हैं। ऐ प्रेम के दीवाने! यदि तेरे प्रेमी तेरे भाग्य को देखकर प्रेम की माला जपते हैं, तो खबरदार हो जा, क्योंकि बुद्धिमानों का कथन है कि 'भाग्य' वेश्या के समान है—हृदय में प्रेम का लवलेश

भी न होते हुए वह सभी प्रेमियों से आलिंगन करती है परन्तु सभी को दूसरे ही क्षण भुला देने के लिये तैयार रहती है ! उसकी सस्ती मुस्किराहट पर अपने को मत लुटा, क्योंकि इसकी मुस्किराहट को त्योरियों में बदलते देर नहीं लगती । भाग्य वेश्या के भावों के समान नया-नया रूप बदल लेता है । यह क्षणिक है, साथ ही अन्धा भी ! अपने अन्धेपन का छूत तो यह अपने शिकारों में भी फैला देता है । रुपयेवाले प्रायः आंखें रखते हुए भी अन्धे होते हैं । अरे भाग्य के लाड़ले पुत्र ! आंखें खोल, तेरे घर का चिराग़ टिमटिमा रहा है । ऐसे दोस्तों की खोज कर, जो तेरा उन कठिनाइयों और आपत्तियों में साथ दें, जो अभी तेरे सिर पर पहाड़ की तरह टूटनेवाली हैं । वे ही दोस्त तेरे असली दोस्त होंगे । इस समय जो खुशामदी टट्टू तुझे घेरे रहते हैं, ये तेरे दुश्मन और तेरी दौलत के दोस्त हैं !

शब्दों की क्या विडम्बना है ! 'लोभी' भी प्रेमी कहाता है, 'कामी' भी अपने को प्रेमी कहना चाहता है । अरे बालक ! कहीं तेरा प्रेमी तेरे शारीरिक सौन्दर्य के कारण ही तो तुझे नहीं घेरे रहता ? क्या इस प्रेम का उद्भव पाशविक मनोवृत्ति —शायद पैशाचिक मनोवृत्ति कहना अधिक उपयुक्त हो—तो नहीं ? क्या इस प्रेम के स्वांग के पीछे कोई पतित भाव तो काम नहीं कर रहा ? यदि ऐसा ही है, और अधिकांश में ऐसा ही होता है, तो अब तक जो कुछ कहा जा चुका है, उसको एक-एक बात को गांठ बांध ले । ऐसी दोस्ती तुम दोनों को तबाह कर

देगी। जब यह दोस्ती ख़त्म होगी—और जब तेरा सारा रस चूस लिया जायगा, तो ख़त्म यह जरूर होगी—तब तुझमें शर्म से बिगड़ी हुई अपनी सूरत को दर्पण में देखने की भी हिम्मत न रहेगी। यदि घृणित काम-वासना को 'प्रेम' का नाम देकर नवयुवकों का शिकार खेलनेवाले कामी लोग संसार के पवित्रतम भाव की विडम्बना न कर रहे होते, तो शायद 'दोस्ती' के सम्बन्ध में कुछ लिखने की आवश्यकता न पड़ती। सदाचार के क्षेत्र में 'माफी' शब्द का कुछ अर्थ नहीं, और जहाँ मैत्री का प्रश्न हो, वहाँ तो आचार-शिथिलता के लिये किसी प्रकार की भी माफी नहीं दी जा सकती। ऐसी आचार-शिथिलता को, कामुकता को. 'प्रेम' के नाम से कहने का प्रयत्न भी करना ईश्वर की सृष्टि के सबसे पवित्र मनोभाव के साथ अन्याय और अत्याचार करना है!

असली और बनावटी मित्रता में भेद करना सीखो। ख़ुशामदी और कामी दोनों नाली के कीड़े हैं, जो मैला खाकर जीते हैं—उनसे प्रेम? उन्हें पास तक मत फटकने दो, दूर से ही दुत्कार दो। यदि एक बार भी ठगे गए, तो पुण्य और सौन्दर्य के उच्च शिखर से ऐसे लुढ़कोगे कि पाप और कष्ट के गढ़े में गिरकर चकनाचूर हुए बिना न रहोगे। ऐसे धोकेबाजों से सावधान रहो और याद रक्खो कि जानी दुश्मन भी उतना ख़तरनाक नहीं होता, जितना गंगा-जमनी दोस्त, जो स्वार्थ को लेकर दोस्ती करने चलता है।

इस प्रकरण को समाप्त करने से पूर्व मैं एक बार फिर दोहरा

देना चाहता हूँ कि 'प्रेम' की जो पवित्र देन परमात्मा ने प्रत्येक मानव-हृदय को दी है, उसे सम्भालकर रखना हरेक का फ़र्ज़ है। मैत्री के प्रेममय भावों को आध्यात्मिक जगत् में से निकाल देना, भौतिक जगत् में सूर्य को बुझा देने के समान होगा—दोनों का अपने-अपने जगत् में समान स्थान है और दोनों ही मानव-समाज के लिये ज्योति के उद्गम-स्थान हैं। परन्तु फिर भी यह सदा, सर्वत्र, स्मरण रखना चाहिये कि सच्ची मैत्री केवल सदाचारियों में हुआ करती है, दुराचारियों में नहीं।

इसलिये, अरे प्रेम-वाटिका के माली! पुण्य के बीज को हृदय की उपजाऊ भूमि में बखेर दे। उसकी जड़ों को ईमानदारी, सचाई, पवित्रता, सदाचार और इज्ज़त का पानी देकर मज़बूत कर। उस बीज को पनपने दे—प्रेम का पौधा लहलहा उठेगा। इस पौधे को बढ़ने दे, जल्दी मत कर—वसन्त के यौवन से इसे अलङ्कृत होने दे, इस पर भाँति-भाँति की, नन्ही-नन्ही देव-वन की कलियाँ लगने दे। इन कलियों को भी बढ़ने दे—बढ़ने दे, और खिलने दे, ताकि गुलाबी फूलों की तरह वे मैत्री के पूर्ण विकास से खिल पड़ें। परन्तु ऐ युवक! खिलती हुई कलियों को तोड़ने के लिये हाथ मत बढ़ा, क्योंकि पौधे का तना लज्जा, सन्देह और भय के काँटों से घिरा हुआ है। प्रेम की खिलती हुई कलियों को तने-तने पर हिल-हिलकर हवा के झोंकों में झूमने दे—जिस चीज़ को तू बना नहीं सकता, उसे बिगाड़ने की हिमाकत मत कर!

तृतीय अध्याय

जनन-प्रक्रिया

जीवन की सब क्रियाओं को मोटी तौर पर दो भागों में विभक्त किया जा सकता है :—'शरीर-पोषण' और 'प्रजनन'। 'शरीर-पोषण' एक स्वार्थमयी क्रिया है। खा-पीकर वैयक्तिक उन्नति करने से ही जीवन-शक्ति बनी रह सकती है। जहां भी जीवन है, वहां यह स्वार्थ पाया ही जाता है। सुदूरवर्ती जंगल के एक कोने में खड़ा हुआ पौधा, हवा से, जल से, पृथिवी से अपने जीवन के लिये आवश्यक प्राण-शक्ति को खींच लेता है। दिन-प्रतिदिन उसमें हरी-हरी कोपलें लगती हैं, शाखाएँ फूटती हैं, वह बढ़ता हुआ वृक्ष बनता चला जाता है। प्रातःकाल पक्षी अपने घोंसलों से निकलते हैं, आसमान पार करते हुए मीलों दूर पहुँच जाते हैं। साँझ को लौट आते हैं, और अगले दिन फिर दाने की ढूँढ़ में निकलने की तैयारी करने लगते हैं। इसी चक्र में उनकी आयु बीत जाती है। जंगल के जानवर हरी घास और ताज़े पानी की खोज में निकल पड़ते हैं। जहाँ उन्हें घास के खेत और पानी के तालाब मिल जाते हैं, वहीं वे अपना बसेरा कर लेते हैं। मनुष्य भी, बचपन से लेकर बुढ़ापे तक, रोटी और कपड़े के जटिल प्रश्न को हल करने में ही पसीना बहाता है। इस प्रकार पौधे, पक्षी, पशु तथा मनुष्य

अपनी वैयक्तिक सत्ता को मिटने से बचाने के लिये भरसक ज़द्दोजहद करते हैं।

परन्तु यह कश्मकश कब तक चल सकती है? आख़िर, मरना हरेक को है। वैयक्तिक जीवन तभी तक है, जब तक जीवित प्राणी जीवन की परिवर्तनशील भिन्न-भिन्न परिस्थितियों पर विजय प्राप्त कर सकता है। जब तक जीवन का पूर्ण विकास नहीं हो जाता, तब तक व्यक्ति को जीवित रहने के लिये, अपने शारीरिक पोषण के लिये, उन अवस्थाओं से लड़ना पड़ता है, जो जीवन की सतत-धारा को रोकने वाली हों, उसे सुखानेवाली हों। परन्तु यह स्थिति भी कब तक रह सकती है ? आख़िर, समय आता है, जब चारों तरफ़ की परिस्थिति के साथ जीवित-सम्बन्ध स्थापित कर सकना असम्भव हो जाता है, मनुष्य बूढ़ा हो जाता है। परिस्थिति के साथ सम्बन्ध बने रहने का नाम ही जीवन और उस सम्बन्ध के टूट जाने का नाम ही मृत्यु है। ऐसी अवस्था में शरीर-पोषण की स्वार्थमयी क्रिया समाप्त हो जाती है। यदि मनुष्य का यही अन्त होता, तो वह अत्यन्त दुःखमय होता, परन्तु ऐसा नहीं है, परमात्मा ने बुझते हुए दीपक की ज्योति को पूर्ण रूप से सुरक्षित रखने का भी उपाय कर दिया है। उसने एक ऐसा तरीका निकाला है, जिससे एक बार उत्पन्न हुआ जीवन अनन्त काल तक बना रह सकता है।

'शरीर-पोषण' के बाद 'जनन-प्रक्रिया' मनुष्य की सहायता को आ पहुँचती है। इसके द्वारा वह वैयक्तिक जीवन के नष्ट हो

जाने पर भी उसे जाति के शरीर में जीता-जागता बना देता है। जब पौधे की वानस्पतिक वृद्धि रुक जाती है, तो उसमें संचरण करनेवाला वही प्राण—रम्य, सुगन्धित पुष्पों के रूप में फूट निकलता है। उन फूलों से सजातीय वृक्ष उत्पन्न करनेवाले सहस्रों बीज तैयार हो जाते हैं! हवा के झोंके से उखड़ता हुआ एक पौधा अपने जैसे अनेकों की नींव रख जाता है। युवावस्था मे, ऋतुकाल में सब प्राणी अपने जैसे बच्चे पैदा कर जाते हैं और उन बच्चों में ही वे प्राणी एक प्रकार से अमर हो जाते हैं। मनुष्य भी मृत्यु के सैकड़ों और सहस्रों वर्ष उपरान्त, अपने बच्चों में, पोतों-पड़पोतों में, बार-बार पैदा होता है और अपने क्षीण हुए यौवन को भी शाश्वत बना लेता है। इस प्रकार जीवन से उत्कट वैर रखनेवाली मृत्यु का पराजय होता है और जीवन की धारा अखण्डित रूप से प्रवाहित रहती है।

जैसा पहले कहा जा चुका है, 'शरीर-पोषण' जीवन की स्वार्थमयी क्रिया है, परन्तु 'प्रजनन' स्वार्थहीन क्रिया है। इसका उद्देश्य युवावस्था में, जिस आयु में शरीर-पोषण ज़्यादा नहीं हो सकता, शरीर-पोषण करने वाले तत्त्व से सन्तानोत्पत्ति करना है। जिस प्रकार पौधे की वानस्पतिक वृद्धि हो चुकने पर फूल खिलते हैं, इसी प्रकार जितना 'शरीर-पोषण' हो सकता है, उसके हो चुकने पर, 'प्रजनन' की बारी आती है। उससे पूर्व यह अस्वाभाविक है। 'शरीर-पोषण' का अवश्यम्भावी परिणाम 'प्रजनन' होना चाहिये, 'शरीर-पोषण' के समाप्त होने पर 'प्रजनन' शुरू होना चाहिये,

उससे पूर्व शुरू हो जाने पर वह 'शरीर-पोषण' के खर्च पर होगा, उसमें रुकावट डालकर होगा। जनन-प्रक्रिया का उपयोग सिर्फ़ सन्तति पैदा करने के लिये करना चाहिये और वह भी तब, जब कि पुरुष की आयु २५ तथा स्त्री की १६ वर्ष की हो, क्योंकि इस आयु में पहुँचकर ही दोनों का पूर्ण विकास होता है। जिस भगवान् ने मनुष्य को 'जनन-शक्ति' दी है, उसकी यही आज्ञा है। पौधों और पशु-पक्षियों में इस आज्ञा का अक्षरशः पालन होता है, परन्तु धिक्कार है मनुष्य को, जो सभ्यता और विकास की डींग हाँकता हुआ नहीं थकता, परन्तु पवित्र जनन-शक्ति का दुरुपयोग करके अपने को देवताओं के उच्च आसन से गिराकर पिशाच बना लेता है और फिर जब समय हाथ से निकल जाता है, भयंकर कुकृत्यों के डरावने परिणाम आँखों के सम्मुख नाचने लगते हैं, तो सिर धुन-धुनकर रोता है!

प्रोटोप्लाज़्म

जीवन का उद्भव बड़ा रहस्यमय है। सर विलियम थौमसन का विचार था कि इस पृथिवी पर जीवन किसी अन्य नक्षत्र से आ गिरा है। डार्विन का सिद्धांत है कि वनस्पतियों तथा प्राणियों की उत्पत्ति किसी एक ही मूल-तत्त्व से हुई है। हर्बर्ट स्पेन्सर, हक्सले तथा टिण्डल ने कहा कि चेतनता की उत्पत्ति जड़ से स्वयं हो गई, परन्तु उन्होंने साथ ही यह भी स्वीकार कर लिया कि उनके सिद्धान्त की पुष्टि के लिये उनके पास कोई प्रत्यक्ष प्रमाण न था। जीवन का उद्भव सृष्टि के प्रारम्भ में कैसे हुआ, इस प्रश्न पर अब तक

कोई निश्चित सम्मति नहीं दी जा सकी। हाँ, उद्भव के बाद, जीवन की वृद्धि के प्रश्न को विज्ञान ने खूब हल कर लिया है। वैज्ञानिकों का कथन है कि वानस्पतिक तथा जान्तविक दोनों जगत् का एकमात्र मूल-आधार 'प्रोटोप्लाज्म' है, जिसे केवल सूक्ष्म-वीक्षण यंत्र की सहायता से देखा जा सकता है। जीवन का मूलभूत यह प्रोटोप्लाज्म—कललरस—क्या है? प्रोटोप्लाज्म एक पारदर्शक पदार्थ है। यह लसलसा, आधा द्रव और आधा ठोस होता है। इसके सब हिस्से एक ही तत्त्व से बने होते हैं; यह अखण्ड एकरस होता है। इसमें स्वाभाविक गति होती रहती है। यह गति अनियमित होती है, घड़ी-घड़ी बदलती रहती है। 'प्रोटोप्लाज्म' के भीतर हर समय दो क्रियाएँ होती रहती हैं। एक क्रिया से वह जीवन-रहित पदार्थ को अपने अन्दर लेकर जीवन का अंग बना देता है, दूसरी क्रिया से जीवन के अंगभूत पदार्थ को भीतर से निकालकर जीवन-रहित बना देता है। यही क्रिया 'जीवन' का प्रारम्भ है।

अमीबा

वानस्पतिक जगत् मे जीवन-शक्ति का सर्वत प्रथम विकास 'बैक्टीरिया' में होता है; प्राणि-जगत् में वही 'अमीबा' में होता है। जीवन की इन दोनों इकाइयों का मूल-तत्त्व 'प्रोटोप्लाज्म' ही होता है। अर्थात्, प्रोटोप्लाज्म, जो जीवन का मूलभूत भौतिक तत्त्व है, जब वनस्पति-जगत् का प्रारम्भ करता है, उस समय इसका नाम 'बैक्टीरिया' होता है, और जब यह प्राणि-जगत् का प्रारम्भ करता है, तब

इसका नाम 'अमीबा' होता है। 'बैक्टीरिया' तथा 'अमीबा' दोनों प्रोटोप्लाज्म के ही विकास हैं, और क्रमशः स्थावर तथा जंगम जगत् के प्रारम्भिक रूप हैं। किसी शान्त तालाव के अन्दर से कीचड़ को लेकर सूक्ष्म-वीक्षण यंत्र के नीचे रखकर देखें, तो पता लगेगा कि वह छोटे-छोटे गोल-गोल प्रोटोप्लाज्म के मूल-तत्त्व से बना हुआ है। सूक्ष्म-निरीक्षण से पता चलेगा कि ये प्रोटोप्लाज्म से बने हुए पदार्थ जीवित प्राणी हैं—वे हिलते हैं, बढ़ते हैं और भिन्न-भिन्न आकृतियाँ धारण करते हैं। इन्हीं कीटाणुओं को 'अमीवा' कहते हैं। अमीबा की चेष्टाएँ अत्यन्त विचित्र होती हैं। इसका एक हिस्सा बढ़कर मुख बन जाता है, फिर वही आमाशय या टाँगों का काम भी करने लगता है। इस कीटाणु के शरीर का कोई अंग निश्चित नहीं होता। अपने शरीर के जिस हिस्से से वह जो कोई भी काम लेना चाहे, ले सकता है।

न्यूक्लिअस

'अमीवा' के शरीर में एक छोटी गाँठ-सी होती है, जिसे 'न्यूक्लिअस' कहते हैं। यह गांठ 'अमीबा' के 'प्रोटो-प्लाज्म' के भीतर ठहरी हुई नजर आती है। यह जनन-प्रक्रिया में बड़ी आवश्यक है। 'न्यूक्लिअस' वाली गाँठ-सहित 'अमीबा' के प्रोटोप्लाज्म को अगरेजी में 'न्यूक्लियेटेड प्रोटोप्लाज्म' कहते हैं। 'न्यूक्लिअस' अर्थात् गाँठवाले प्रोटोप्लाज्म को क्षुद्र-वीक्षण के नीचे रखकर देखने से अनेक नई बातें मालूम होती हैं। कुछ देर के बाद जब 'अमीबा' निश्चल हो जाता है,

कोष
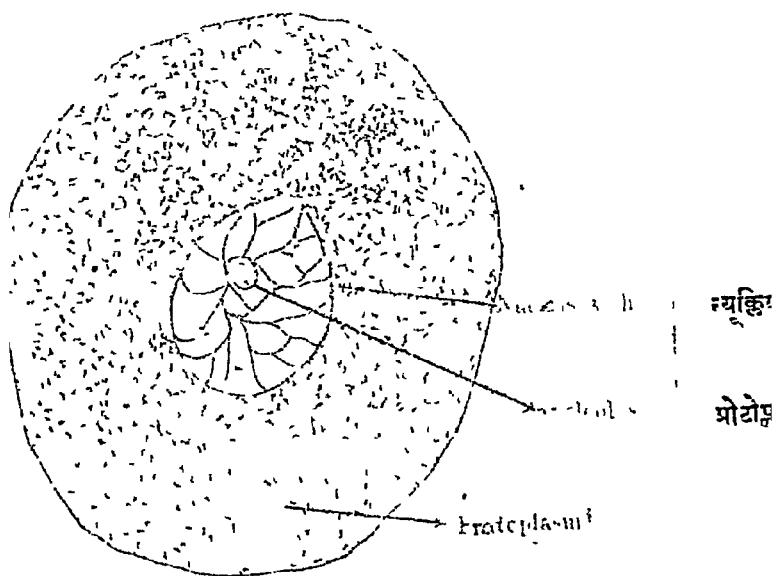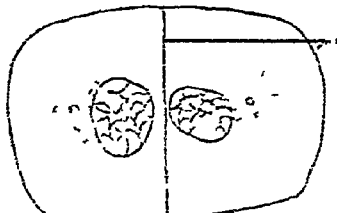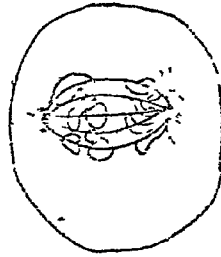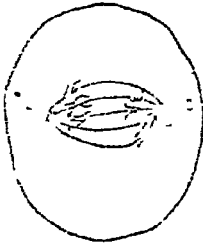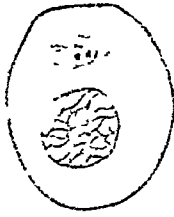
कोष्ठ-विभजन

उसके 'न्यूक्लिअस'-गाँठ-में कुछ आवश्यक परिवर्तन होने प्रारम्भ होते हैं। 'न्यूक्लिअस' के बीच में से दो टुकड़े हो जाते हैं और प्रत्येक टुकड़े के साथ आधा-आधा पोटोप्लाज्म भी चला जाता है। वह प्रोटोप्लाज्म उस टुकड़े को घेर लेता है और जहां पहले एक 'अमीबा' था वहां अब दो स्वतन्त्र 'अमीबा' तैयार हो जाते हैं। एक ही 'अमीबा' के दो 'अमीबा' बन जाते हैं। इनमें से प्रत्येक के फिर दो भाग होकर चार 'अमीबा' बन जाते हैं। इस प्रकार जनक-अमीबा अपने व्यक्तित्व को नष्ट करके अपने ही शरीर को पहले दो, फिर चार, फिर आठ आदि भागों में विभक्त कर अपनी जाति की भावी सन्तति को जन्म देता है।

हमने अभी देखा कि 'अमीबा' के विकास में बीच की गाँठ टूटकर दो भागों में बँटती है, और 'न्यूक्लियस-युक्त प्रोटोप्लाज्म' के वे दो भाग टूटकर चार भागों में, और इसी प्रकार वे भी आगे-ही-आगे टूटकर अनेक भागों में विभक्त होते जाते हैं। 'अमीबा' से ऊँचे प्राणियों में भी शरीर की रचना का, 'न्यूक्लिअस-युक्त प्रोटोप्लाज्म' से ही, जिसे अंग्रेजी में 'सेल' या हिन्दी में 'कोष्ठ' कहते हैं, प्रारम्भ होता है। उच्च प्राणियों के शरीर के उत्पन्न होने में भी वही प्रक्रिया होती है, जो 'अमीबा' में पाई जाती है, भेद केवल इतना है कि 'अमीबा' का 'न्यूक्लिअस' तो दो स्वतन्त्र भागों में विभक्त होकर अपनी पूर्व सत्ता बिल्कुल मिटा देता है, दो नये 'अमीबा' पैदा हो जाते हैं, परन्तु ऊँची जाति के प्राणियों में, जिनमें मनुष्य भी शामिल है,

कोष्ठ-विभजन

प्रोटोप्लाज्म का बहुत थोड़ा-सा हिस्सा पृथक् होकर 'अण्डा' या 'बीज' बनता है और उन अण्डों या बीजों को उत्पन्न करने वाला प्राणी उसी प्रकार के दूसरे अण्डों और बीजों को समय-समय पर उत्पन्न करता रहता है और 'अमीबा' की तरह अपनी भौतिक सत्ता को मिटा नहीं देता, किन्तु जीवित बनाये रखता है। जिस काम के लिये 'अमीबा' जैसे निम्न श्रेणी के प्राणी को अपने सारे शरीर के दो हिस्से कर देने पड़ते हैं, उसी काम के लिये उच्च श्रेणी के प्राणियों के शरीर का एक बहुत छोटा-सा हिस्सा पर्याप्त होता है।'

यह छोटा-सा हिस्सा ही पुरुष में 'वीर्य-कीट' तथा स्त्री में 'रजःकण' के रूप में पाया जाता है। 'वीर्य-कीटों' को अंग्रेजी में 'स्पर्मेटोज़ोआ' कहते हैं—ये 'उत्पादक वीर्य' हैं। स्त्री के 'रजःकणों' को अंग्रेजी में 'ओवा' कहते हैं। 'स्पर्मैटोज़ोआ' तथा 'ओवा' दोनों ही 'न्यूक्लिअस-युक्त प्रोटोप्लाज्म' के पिण्ड के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं। ऊँची जातियों के प्राणियों में जब 'वीर्य-कीट' अथवा 'स्पर्मैटोज़ोआ' 'रजःकण' अथवा 'ओवा' के साथ मिल जाता है, तब 'ओवा' (स्त्री का बीज) दो, चार, आठ, सोलह, बत्तीस, चौसठ, और इसी प्रकार ऐसे ही छोटे-छोटे कोष्ठों में टूट-टूटकर विभक्त होता जाता है, और बढ़ता जाता है। यह वृद्धि 'अमीबा' के समान नहीं होती। यहाँ कोष्ठों के टुकड़े बिल्कुल अलग नहीं हो जाते। कोष्ठों की वृद्धि होती जाती है, परन्तु सब कोष्ठ मिले रहते हैं। उच्च प्राणियों में

ऐसा ही होता है। जब इन कोष्ठों का मिलकर एक छोटा-सा पिण्ड बन जाता है, उसमें तन्तु, मांस-पेशियाँ, अस्थियाँ बन जाती हैं, तब वह माता के पेट से निकलकर स्वतन्त्र रूप से जीने लगता है। उससे पूर्व तो वह माता के शरीर का ही हिस्सा रहता है। प्राणियों के शरीर की इसी प्रकार वृद्धि होती है और इसे 'विभजन-द्वारा वृद्धि' (सैगमन्टेशन, मल्टीप्लिकेशन बाई डिवीयन) या 'कोष्ठ-कल्पना' (सेल-थियोरी) कहते हैं।

शरीर के अनेक अवयव केवल इन कोष्ठों से ही बने होते हैं। जिगर उनमें से एक है। 'कोष्ठ' ही तन्तुओं के रूप में पट्ठों, मांस-पेशियों तथा ज्ञान-वाहिनी नाड़ियों की रचना करते हैं। हड्डी तथा दाँत जैसी मजबूत तथा सख्त चीज़ें भी मौलिक रूप मे कोष्ठों से बनती हैं। इसलिये कोष्ठ (सेल) प्राणिमात्र के शरीर की रचना करने वाली इकाई हैं। कोष्ठों के आपस में मिलने, संयुक्त होने तथा परिवर्तित होने से ही शरीर का निर्माण होता है।

लिङ्ग-भेद

कोष्ठ-विभजन (प्रोटोप्लाज्म तथा न्यूक्लियस के दो-दो टुकड़े) होने से पहले, एक और आवश्यक प्रक्रिया होती है, जिसका हमने अभी तक वर्णन नहीं किया। तालाब की काई को सूक्ष्म-वीक्षण-यंत्र द्वारा देखने से ज्ञात होता है कि वह दो भिन्न प्रकार के जीवाणुओं से बनी हुई है। इन्हें 'एलजी' कहते हैं। उस काई में 'न्यूक्लिअस गर्भित प्रोटोप्लाज्म' की आमने-सामने दो-दो पंक्तियाँ बन जाती हैं। प्रत्येक पंक्ति के कोष्ठ अपने

सामने के कोष्ठों से मिल जाते हैं, और दोनों के मिलने से एक नवीन कोष्ठ बन जाता है। इस प्रक्रिया में एक कोष्ठ को दूसरे कोष्ठ की तरफ़ जाते हुए हम सूक्ष्म-वीक्षण यंत्र द्वारा देख सकते है। इन कोष्ठों को, जो कि दो भिन्न-भिन्न पंक्तियों में होते हैं, 'नर' और 'मादा' कहते हैं। इन कोष्ठों के परस्पर संयुक्त होने की प्रक्रिया को 'संयोग' (कौञ्जुगेशन) कहते हैं। यदि कोष्ठों का यह सयोग न हो, तो 'ऐलजी' में एक से अनेक होने क . प्रक्रिया पाई जाती है, वह भी न हो। कोष्ठों का यह पारस्परिक संयोग सृष्ट्युत्पत्ति का एक आवश्यक सिद्धान्त है।

इसलिये 'जनन' दो विभिन्न तत्वों के 'संयोग' का फल है। इन्हीं विभिन्न तत्वों को प्रचलित भाषा में 'पुरुष' तथा 'स्त्री' कहा जाता है। यद्यपि कभी-कभी तत्वों की विभिन्नता, अर्थात् विजातीयता का ज्ञान सूक्ष्म-वीक्षण-यंत्र से भी स्पष्ट प्रतीत नहीं होता, तथापि उनके विविध कार्यों को देखकर निश्चय कर सकते हैं कि वे भिन्न-भिन्न तत्व वा लिंग के प्राणी हैं। दोनों ही, एक नवीन प्राणी की उत्पत्ति के लिये, 'पुरुष-तत्व' तथा 'स्त्री-तत्व' इन विभिन्न तत्वों को उत्पन्न करते हैं और इन विभिन्न तत्वों के सम्मिलन से ही एक नवीन प्राणी की सृष्टि होती है। प्रजनन के लिये आवश्यक इन दोनों तत्वों को उत्पन्न करनेवाली इन्द्रियों को 'जननेन्द्रिय' शब्द से कहा जाता है। प्रजनन के आधार-भूत सिद्धान्त सम्पूर्ण विश्व में एक से हैं। इसलिये 'जनन-प्रक्रिया' को और अधिक समझने के लिये हम क्रमशः पौधों, छोटे
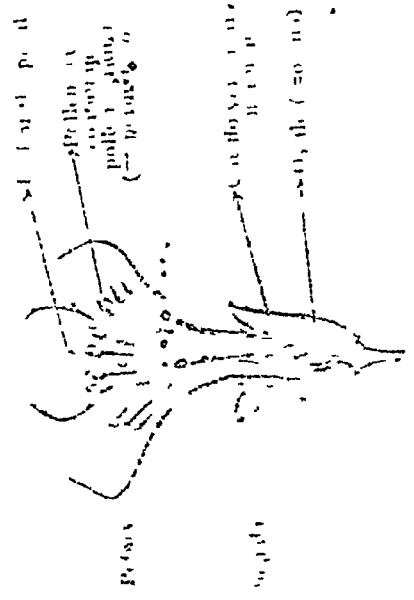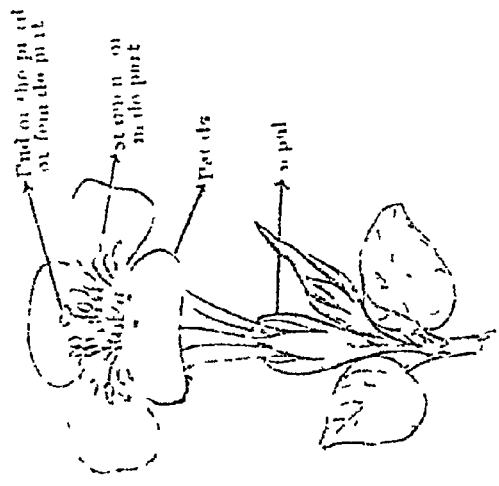
A Flower

पुष्प में उत्पत्ति-प्रक्रिया

प्राणियों, बड़े प्राणियों तथा मनुष्यों में इन नियमों को देखकर इस प्रक्रिया को समझाने का प्रयत्न करेंगे।

पौधे

'फूल' पौधों की जनन-सम्बन्धी इन्द्रियाँ हैं। कुछ फूल 'नर'-तत्व को उत्पन्न करते हैं और कुछ 'मादा'-तत्व को। कई बार एक ही फूल में दोनों तत्व मिले रहते हैं। फूलों के नर-भाग को अंग्रेजी में 'स्टेमन' तथा मादा-भाग को 'पिस्टिल' कहते हैं। नर-भाग (स्टेमन) में एक प्रकार की सूक्ष्म, शुद्ध धूलि होती है, जिसे पुँ-केसर (पौलन) कहते हैं। यही फूल का जनन-सम्बन्धी नर-तत्व है। मादा-भाग (पिस्टिल) फूल के मध्य में स्थित होता है और वहीं पर फूल का जनन-सम्बन्धी मादा-तत्व (ओव्यूल) रहता है। यदि नर तथा मादा तत्व एक ही फूल के भीतर हों, तो वहीं 'बीज' की सृष्टि हो जाती है, परन्तु यदि ये दोनों तत्व भिन्न-भिन्न पौधों पर स्थित हों, तो नर-पुष्प के पुँ-केसर को वायु उड़ाकर निकटस्थ मादा-पुष्प के भीतर पहुँचा देती है। इस विधि से कई अवस्थाओं में नर तथा मादा जाति के पुष्पों के बहुत दूर स्थित होने पर भी 'संयोग' हो जाता है। मधु-मक्खियाँ, पतंग आदि अपने पंखों और पाँवों द्वारा उत्पादक धूलि को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाकर जनन-प्रक्रिया में बड़ी सहायता पहुँचाते हैं। छोटी चिड़ियाँ और बेचारा 'स्नेल' इस दृष्टि से बड़े काम के हैं। पौधों की जनन-प्रक्रिया में भाग

लेनेवाले कई कीट-पतंगों का इतना महत्व है कि कविता की भाषा में उन्हें 'फूलों के विवाह का पुरोहित' कहा गया है।

छोटे प्राणी

मछली

कुछ छोटे प्राणियों में जिन विधियों द्वारा 'संयोग' अथवा 'जनन-प्रक्रिया' होती है, वे पौधों की अपेक्षा विभिन्न, अनेक तथा अधिक आश्चर्य-जनक हैं। उदाहरणार्थ, मछलियों तथा साँपों में माता-पिता के शरीर से, उनके आपस में मिले बिना ही, नर तथा मादा तत्व निकल आते हैं और उन तत्वों का माता-पिता के शरीर के बाहर ही संयोग हो जाता है। इस अवस्था में एक का दूसरे से स्पर्श बिल्कुल नहीं होता। प्राणियों की इस श्रेणी में, जनन-प्रक्रिया ठीक वैसी ही होती है, जैसी उन पौधों में जिनमें नर तथा मादा-पुष्प एक ही पौधे के भिन्न-भिन्न भागों में स्थित होते हैं। मादा मछली के शरीर में बहुत से अण्डे ख़ास मौसम में पैदा हो जाते हैं। कई बार इनकी संख्या हज़ारों तक होती है। इसी समय नर-मछली के अण्डकोष, जो कि उसके शरीर में (कोष्ठगुहा—एबडोमिनल कैविटी में) विद्यमान होते हैं, बढ़ने लगते हैं। इन्हीं अण्डकोषों में वीर्य-कण होते हैं। जब मादा अपने अण्डों को सुरक्षित रखने के लिये जगह ढूँढ़ती है, तो नर चुपचाप उसके ही पीछे हो लेता है और ज्यों ही वह अण्डों को देती है, त्यों ही वह उन पर वीर्य-कण डाल देता है। इसी से संयोग हो जाता है

और नई मछलियों का जीवन प्रारम्भ हो जाता है। उत्तरी समुद्र का जल कई स्थानों पर मछलियों के अण्डों से गँदला हो जाता है।

यह प्रक्रिया मेढक की कई जातियों में ज्यों-की-त्यों मिलती है।

मेढक

जिस समय मादा अपने अण्डे सुरक्षित रखनेवाली होती है, नर उसकी पीठ पर बैठ जाता है और तब तक बैठा रहता है, जब तक कि सब अण्डे सुरक्षित तौर पर रख नहीं दिये जाते। मादा द्वारा अण्डों के रक्खे जाते ही नर उन पर वीर्य-कण डाल देता है। इस प्रकार नर तथा मादा दोनों के उत्पादक तत्त्वों के संयोग से जनन प्रारम्भ होता है। मादा को अण्डे रखने में काफ़ी समय लगता है। तब तक नर उसकी पीठ पर बैठा ही रहता है। इस समय उसके पाँवों में अजीब ढग के अंगूठे-से निकल आते हैं, जिनसे वह मादा की पीठ पर चिपटा रहता है। ये अंगूठे इसी समय निकलते हैं। बच्चा पैदा करने की मौसम के समाप्त हो जाने पर ये क्षणिक अंगूठे लुप्त हो जाते हैं, क्योंकि फिर इनकी कोई आवश्यकता नहीं रहती। ये दोनों उदाहरण 'बहिःसंयोग' के हैं—इनमें नर तथा मादा तत्त्वों का संयोग मादा के शरीर के बाहर होता है।

कुछ जातियों में, जिनमें 'अन्तःसंयोग' होता है, नर और मादा एक दूसरे को स्पर्श नहीं करते, परन्तु फिर भी कई अज्ञात कारणों से नर का वीर्य-कण मादा के शरीर में पहुँच जाता है और वहाँ पर नर-तत्व के सयोग से अण्डा बढ़ने लगता है। इस प्रकार की जनन-प्रकिया में नर तथा मादा का शारीरिक

संयोग नहीं होता। संस्कृत-साहित्य में बादल के गर्जने से बगुली के गर्भ हो जाने का वर्णन पाया जाता है।

साँपों में नर तथा मादा की जननेन्द्रियों के पारस्परिक स्पर्श-मात्र से संयोग हो जाता है।

स्नेल

स्नेल उभय-लिंगी प्राणी है, अर्थात् एक ही स्नेल नर और मादा दोनों एक साथ होता है। इसमें नर और मादा का सयोग बड़ी विचित्र रीति से होता है। टी० आर० जोन्स ने इसका निम्न प्रकार वर्णन किया है :—

"इनमें जिस विधि से संयोग होता है, वह कुछ कम आश्चर्य-जनक नहीं है। इस संयोग का प्रारम्भ असाधारण रीति से होता है। देखनेवाला समझता है कि यह दो प्रेमियों का मिलाप नहीं, परन्तु शत्रुओं की लड़ाई है। यह प्राणी स्वभाव से शान्त प्रकृति का है, परन्तु संयोग के समय दोनों में अजीव फुर्ती आ जाती है। शुरू-शुरू में प्रगाढ़ आलिंगन होता है, फिर दोनों में से एक अपनी ग्रीवा के दाईं ओर से एक चौड़ी और छोटी-सी थैली को खोलता है। यह थैली तनकर कटार जैसी हो जाती है और गले के साथ ऐसी लगी होती है, मानो दीवार के साथ चिपकी हुई हो। इस अजीव हथियार से दूसरे प्रेमी के असुरक्षित भाग पर प्रहार किया जाता है। वह भी जल्दी से अपने खोल में घुसकर इस आघात से बचने की पूरी कोशिश करता है। परन्तु अन्त में किसी खुले स्थान पर चोट लग ही जाती है और उसके लगते ही इस प्रेम-प्रहार का बदला लेने के लिये आहत-स्नेल उद्विग्न हो उठता है

और अपने प्रतिद्वन्द्वी को चोट पहुँचाने में कुछ उठा नहीं रखता। इस प्रेम-कलह में उनकी कटारों पर लगे छोटे-छोटे काँटे प्रायः टूटकर जमीन पर गिर पड़ते हैं, अथवा उनके जख्मों पर चिपक जाते हैं। इस प्रारम्भिक उत्तेजना के कुछ देर बाद दोनों स्नेल चेतन होकर अधिक प्रबलता से लड़ने के लिये आगे बढ़ते हैं। अब वह कटार संकुचित होकर शरीर में आ जाती है और एक दूसरी छोटी थैली दोनों के उत्पादक छिद्रों में से निकलकर आगे को बढ़ जाती है। यह स्नेल की जननेन्द्रिय है, और इस पर दो छिद्र दिखाई देते हैं। क्योंकि स्नेल उभय-लिंगी है—अर्थात् नर तथा मादा दोनों है—इसलिये इन दोनों छिद्रों में से एक तो स्नेल का मादा होने का छिद्र है और दूसरा नर होने का। इस दूसरे छिद्र में से दोनों की एक इञ्च लम्बी चाबुक-जैसी नर-इन्द्रिय धीरे-धीरे खुलती है। तब दोनों स्नेल परस्पर संयोग करते हैं और दोनों के, एक दूसरे से, गर्भ ठहर जाता है।"

ओयस्टर भी उभय-लिंगी प्राणी है, उसमें भी आत्म-संयोग हो जाता है। आरगोनट एक प्रकार की मछली होती है। इसमें संयोग बहुत ही विचित्र रूप से होता है। नर के शरीर के बाएँ हिस्से पर एक छोटी-सी थैली होती है, जिसमें एक कुण्डलीदार उपकरण रहता है। यह उपकरण वस्तुतः एक नलिका होती है, जिसका सम्बन्ध अण्डकोषों से होता है। इस नलिका मे वीर्य-कण संचित रहते हैं। पूर्ण वृद्धि होने पर वीर्य-कणों से भरी हुई यह थैली आरगोनट के शरीर

आरगोनट

से जुदा हो जाती है, जल में तैरती-तैरती मादा को ढूँढ लेती है और उसके साथ संयोग से मादा के बच्चे पैदा होने लगते हैं।

मक्खी

एक विशेष प्रकार की मक्खी पाई गई है, जो लाश की सड़ांद की गन्ध से अण्डे देने लगती है। यदि इस मक्खी के गंध लेनेवाले ज्ञान-तन्तु काट दिये जायँ, तो वह अण्डे देना बन्द कर देती है। नाक पर आघात लगने के अलावा उसे दूसरे स्थानों पर कितनी भी बड़ी चोट क्यों न लगे, वह अण्डे देना बन्द नहीं करती। जननेन्द्रिय के साथ घ्राण के सम्बंध का यह अद्भुत उदाहरण है।

मधुमक्खी

कभी-कभी मधु-मक्खी, बिना किसी संयोग के अण्डे देने लगती है और उन अण्डों से हमेशा नर-मक्खी पैदा होती है। नर के साथ संयोग के बाद वह छत्ते के कोष्ठों में अण्डे देती हैं और उन अण्डों से हमेशा मादा-मक्खी पैदा होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसमें अपनी इच्छा के अनुसार, बिना संयोग के अण्डे पैदा करने की शक्ति है, जिससे नर-मक्खियाँ पैदा होती हैं। मधु-मक्खियाँ, बड़ी मेहनत से, सैकड़ों नर-मक्खियों को एक रानी-मक्खी के सुख के लिये पालती हैं। जब मधु-मक्खियों की 'रानी' संयोग के लिये आकाश में उड़ती है, तो नर-मक्खियाँ उसके पीछे हो लेती हैं। जब एक नर-मक्खी का रानी-मक्खी से संयोग हो जाता है, तब वह अपनी जननेन्द्रिय को उसके शरीर में छोड़कर मर जाता है। अन्य नर-मक्खियाँ अब

किसी काम की नहीं रहतीं, अतः पतझड़ में शक्तिशाली मक्खियाँ उनका संहार कर देती हैं।

तितली का जनन-सम्बन्धी जीवन भी अनोखा है। यह कुछ महीनों तक रोमावृत अवस्था में रहती है—फिर साल-दो-साल तक चमकते हुए कीट की अवस्था धारण करती है। इसके बाद दीवार की दराड़ में या पेड़ की छाल के नीचे, रेशम के कीड़े के घर की तरह, एक खोल बनाकर सोई रहती है। अन्त में शानदार, रंग-बिरंगे परों का शृंगार कर टहनी से टहनी पर मँडराने लगती है। इसे भोजन की भी आवश्यकता नहीं होती। मादा बड़ी शांत होती है, चुपचाप पड़ी रहती है। नर की घ्राण-शक्ति इतनी तीव्र होती है कि उसे कई मीलों से मादा की गन्ध आ जाती है और ज्यों ही वह उड़ने योग्य हो जाता है, फौरन् खेतों और जंगलों को पार करता हुआ अपनी प्रिया के पास जा पहुँचता है। प्रणय के प्रथम मिलन में ही वह अभागा इस संसार से चल बसता है। इसके बाद मादा भी अनगिनत अण्डे जनकर तत्क्षण अपने प्रीतम के पास उस लोक में पहुँच जाती है। यह प्रेम की कैसी करुण कहानी है!

तितली

प्रकृतिवादी फ़ेवर महोदय ने चींटियों के जनन-सम्बन्धी जीवन के विषय में अनेक आश्चर्य-जनक बातें पता लगाई हैं। उनका कथन है कि कई चींटियाँ ऐसी होती हैं, जिनमें मादा संयोग के लिये उड़ती है। अनेक नर-चींटे उड़-उड़कर उसका आलिंगन करते हैं और उसके पीछे

चींटी

ही वे मर जाते हैं। इस प्रकार मादा के पास वीर्य-कणों को एक धरोहर हो जाती है, जिसमें विविध नरों के वीर्य-कण सुरक्षित रक्खे रहते हैं। इसके बाद वह कई साल तक, कम-से-कम ११ या १२ साल तक, बिना किसी नर के संयोग के अण्डे पैदा कर सकती है। वस्तुतः, यह बड़े अचम्भे की बात है कि इतने समय तक वीर्य-कण पूर्ण रूप से सुरक्षित पड़े रह सकते हैं।

बड़े प्राणी और मनुष्य

बड़े प्राणियों में नर तथा मादा के उत्पादक तत्त्वों के मिलने से जीवन उत्पन्न होता है। इस क्रिया के लिये कुछ सहायक तथा आवश्यक इन्द्रियाँ भी परमात्मा ने बनाई हैं—नर में 'शिश्न' तथा मादा में 'योनि'।

प्रत्येक जाति में—आदमी, घोड़ा, बकरी, सभी में—नर तथा मादा के जनन-सम्बन्धी गुह्य-अंग एक दूसरे की दृष्टि में रखकर ही बनाये गये हैं। प्रत्येक जाति के नर तथा मादा के गुह्य-अंगों में एक आश्चर्य-जनक पारस्परिक अनुकूलता पाई जाती है। यह प्रकृति का बड़ा भारी चमत्कार है। यह आवश्यक आयोजन अपनी जाति को हमेशा बनाये रखने का जहाँ शक्तिशाली उपाय है, वहाँ दो विभिन्न जातियों के मिलने के मार्ग में रुकावट भी है।

नर तथा मादा की जननेन्द्रियों के मेल को 'संयोग' कहते हैं। संयोग ही जनन-प्रक्रिया है। जनन-प्रक्रिया में वीर्य-कण रज:कण से सिर्फ मिल ही नहीं जाता, परन्तु रज:कण की पतली-सी

झिल्ली को चीरकर अन्दर घुस जाता है और उसके अन्दर के द्रव्य से मिल जाता है। फिर रजःकण की वृद्धि होने लगती है और उसका क्रम वही होता है, जिसका वर्णन 'कोष्ठ-विभजन' की क्रिया में पहले किया जा चुका है। कई मछलियों के रजःकणों में छोटे-छोटे छिद्र देखे गये हैं, जिनके द्वारा वीर्य-कण को उनके अन्दर प्रविष्ट होने का मार्ग मिल जाता है। वीर्य-कण की एक लम्बी-सी पूँछ होती है, उसकी सहायता से वह रजःकण को ढूँढ़ता हुआ योनि में गति करता है। रजःकण की पृष्ठ को छूते ही वह उसे चीरकर जल्दी से अन्दर घुस जाता है। तत्पश्चात्, रजःकण की पृष्ठ का द्रव्य बाहर से जम जाता है, जिससे उसे कोई अन्य वीर्य-कण चीरकर प्रविष्ट नहीं हो सकता। यह जमाव रजःकण की रक्षा के लिये कवच का काम देता है। जब कभी रुग्ण रजःकण में कई वीर्य-कण प्रविष्ट हो जाते हैं, तो एक अद्भुत् प्राणी-मौंस्टर- की उत्पत्ति होती है। यदि रजःकण में दो वीर्य-कण प्रविष्ट हो जायँ, तो एक मिला हुआ जोड़ा पैदा होता है। परन्तु यह अस्वाभाविक अवस्था है।

जब रजःकण वीर्य-कण से संयुक्त हो जाता है, तब 'गर्भ' रह जाता है। रजःकण शीघ्र ही गर्भाशय की आभ्यन्तरिक झिल्ली पर चिपक जाता है और गर्भावस्था का समय प्रारम्भ हो जाता है। मनुष्य-जाति में प्रायः यह समय कलेण्डर के नौ महीनों या चान्द्रमास के दस महीनों का होता है। इस समय स्त्रियों को मासिक-धर्म नहीं होता। यद्यपि कई स्त्रियों में, गर्भ ठहरने

पर भी, विशेषतः प्रारम्भिक महीनों में, मासिक-धर्म, कुछ विकृत रूप में पाया जाता है, तथापि यह असाधारण अवस्था है।

गर्भ के समय रजःकण विकास की विविध अवस्थाओं में से गुज़रता है। इनमें से कई परिवर्तन हूबहू वही होते हैं, जो हमें भिन्न-भिन्न प्रकार के छोटे प्राणियों में मिलते हैं। एक समय आता है, जब बढ़ता हुआ मानवीय भ्रूण अण्डे से पैदा हुई छोटी-सी चिड़िया-जैसा होता है। फिर समय आता है, जब कि वह कुत्ते की शक्ल से इतना मिलता है कि बड़े-बड़े विज्ञानवेत्ता धोखा खा सकते हैं। ऐसा भी समय आता है, जब भ्रूण के हाथ-पाँव एक ख़ास मछली के बाज़ुओं से बिल्कुल मिलने लगते हैं। इसके बाद भ्रूण का सारा शरीर बन्दर की तरह बालों से ढक जाता है। भ्रूण की क्रमिक वृद्धि के इन दृष्टान्तों को देकर विकासवादी कहा करते हैं कि मनुष्य तथा अन्य छोटे प्राणियों का उद्भव-स्थान एक ही है। परन्तु यह उनकी भूल है। इन उदाहरणों से यह सिद्ध नहीं होता कि सबकी उत्पत्ति एक ही से हुई है; हाँ, यह अवश्य पता चलता है कि इन विविध योनियों को बनाने-वाला एक ही हाथ है, जिसकी कारीगरी के एक ही-से निशान सर्वत्र बिखरे हुए दिखाई देते हैं।

चतुर्थ अध्याय

उत्पादक अंग

पिछले अध्याय में जनन-प्रक्रिया का वर्णन हो चुका; इस अध्याय में जनन के अंगों का शारीर-शास्त्र की दृष्टि से वर्णन किया जायगा। शरीर में उत्पादक अंग जगत्स्रष्टा प्रभु की रचना-शक्ति के प्रतिनिधि हैं। पापी तथा भ्रष्ट लोग इन अंगों का बुरा उपयोग करते हैं, अन्यथा वे इतने ही पवित्र हैं, जितना शरीर का कोई भी दूसरा अंग। बालकों को इन अंगों के विषय में उल्टे-सीधे तरीके से जो कुछ मालूम हो सकता है, उसका संग्रह करने में वे कुछ उठा नहीं रखते। परिणाम यह होता है कि उनके विचार कुसंस्कारों की बदबू से दुर्गंधित हो जाते हैं, और उन्हें ठीक-ठीक किसी बात का पता भी नहीं चलता। इस अध्याय का विषय है—उत्पादक अंग। इन अंगों के सम्बंध में विद्यार्थी का मस्तिष्क रहस्य के काले-काले बादलों से घिरा रहता है। वे बादल घनीभूत होकर उस युवक को जीवन-नौका को तूफान से धकेलते हुए डावाँडोल न कर दें, इसलिये इन अंगों का ज्ञान वैज्ञानिक दृष्टि से प्रत्येक के लिये आवश्यक है। इन अंगों का अध्ययन प्रत्येक विद्यार्थी को इतने ही आत्म-संयम और एकाग्र-चित्त से करना चाहिए, जितने से वह जीवन-सम्बंधी अन्य किसी आवश्यक विषय का मनन करता है।

स्त्री के उत्पादक संस्थान के अंग शरीर के भीतर तथा पुरुष के बाहर स्थित होते हैं। हम केवल पुरुष के उत्पादक संस्थान का वर्णन करेंगे।

शिश्न

पुरुष की जननेन्द्रिय को शिश्न कहते हैं। यह खोखला-सा, स्पंज जैसा अवयव है। इसका प्रधान कार्य मूत्रोत्सर्ग है। परिपक्वावस्था में २५ वर्ष के बाद यह अंग जनन के काम भी आ सकता है, परंतु उस अवस्था से पूर्व बुरे विचार से इस अंग को हाथ भी लगाना आत्मघात को तरफ़ पाँव बढ़ाना है। कुचेष्टाओं से यह अंग शिथिल हो जाता है, अन्यथा संयमी पुरुष की इन्द्रिय छोटी भी हो, तो भी उसका उत्पादन-शक्ति से कोई सम्बंध नहीं है। इस अंग में अनेक रक्त-वाहिनी प्रणालिकाएँ रहती हैं। काम-भाव के विचारों से शरीर का रुधिर इन प्रणालिकाओं की तरफ़ जाने लगता है और जननेन्द्रिय उत्तेजित हो उठती है। इस प्रकार की उत्तेजना जिन कारणों से होती हो, उनसे बचना चाहिए। क्यों?—क्योंकि यह रुधिर कुछ देर जननेन्द्रिय में टिकने के बाद जीवन-रहित हो जाता है। संचित रुधिर प्रायः थोड़ी देर के बाद जीवन-रहित हो ही जाया करता है। उत्तेजना हट जाने पर यह विकृत रुधिर फिर शरीर में गति करने लगता है और सारे रुधिर को अपने गंदे अंश से ख़राब कर देता है। डॉ० कोथ ने अपनी पुस्तक 'सेवन स्टडीज़ फ़ॉर यंगमेन' में अपने इस विचार को सप्रमाण पुष्टि की है। माता-पिता को स्मरण रखना चाहिए कि बालकों में जननेन्द्रिय-

पुरुष के जनन-संबंधी अंग
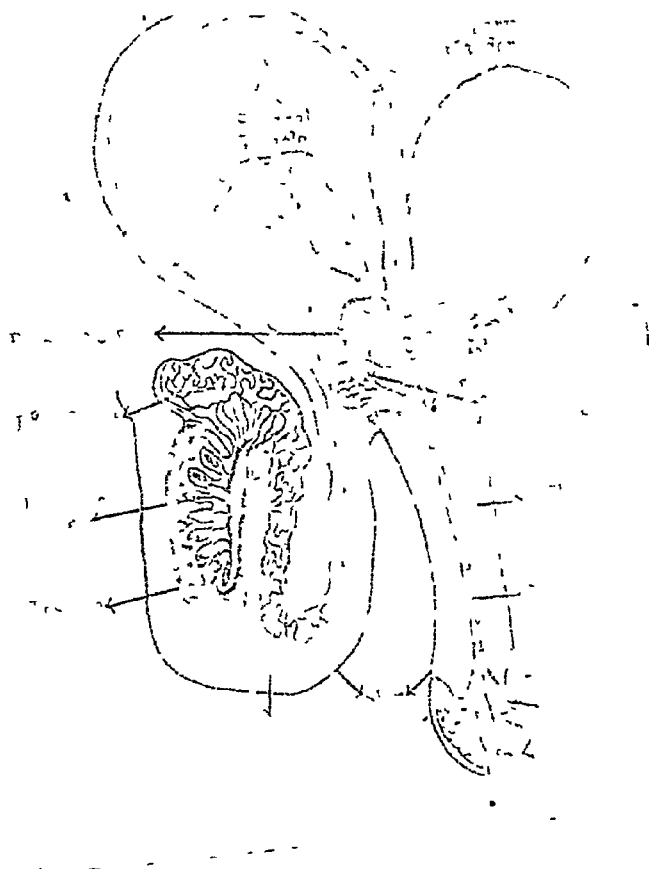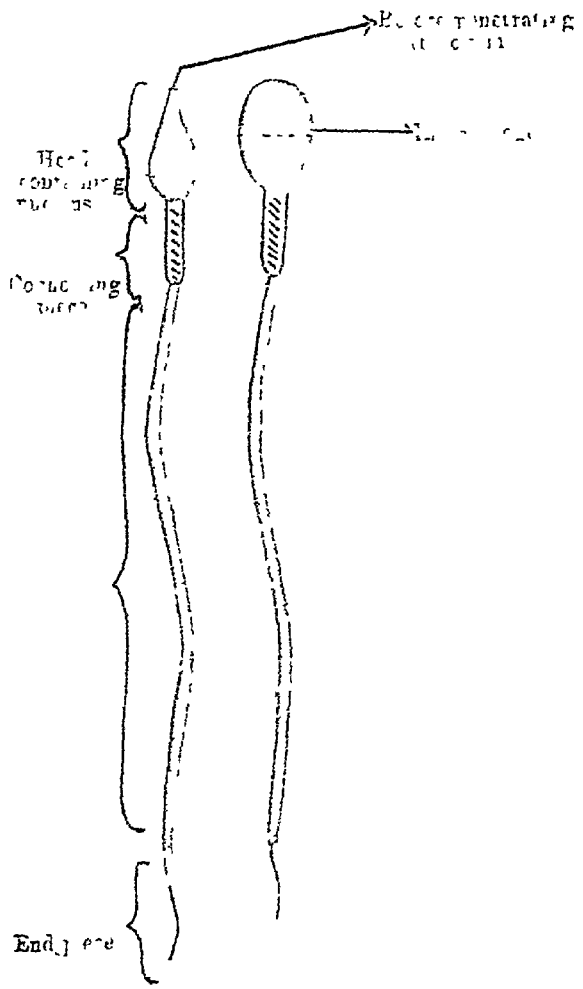
स्पर्मेटोजोआ

सम्बन्धी ख़राबियों का सूत्रपात उस दिन से आरम्भ होता है, जिस दिन से उन्हें पहले-पहल उत्तेजना का अनुभव होता है। वे इसे खेल की चीज़ समझने लगते हैं। पीछे इसी खेल के साथ कई रहस्य जुड़ जाते हैं और युवक का जीवन नष्ट होने लगता है। उसे समझा देना चाहिए कि यह खेल उसे किसी दिन रुलाएगी। मेरे पास सैकड़ों पत्र पड़े हैं, जिनमें लड़के अपने पिछले दिनों को रोते हैं। हाँ, वे बीते दिन तो नहीं लौट सकते, परंतु आगामी आनेवाली सन्तति उनके आँसुओं से सचेत ज़रूर हो सकती है।

शिश्न का गात्र पतली त्वचा से मुख तक ढका रहता है।

मुण्डाग्र-चर्म

इसके आगे के बढ़े हुए चर्म को मुण्डाग्र-चर्म कहते हैं, क्योंकि यह शिश्न के मुण्ड को ढाँपता है। मुसलमानों तथा यहूदियों में मुण्डाग्र-चर्म को कटवा देना धार्मिक कर्तव्य समझा जाता है। इस कृत्य को वे ख़तना कहते हैं। उत्तरी भारत में कट्टर पंडित लघुशंका जाते समय पानी साथ ले जाते हैं और इन्द्रिय-स्नान कर लेते हैं। कई लोग इसी कार्य के लिये मिट्टी का इस्तेमाल करते हैं। लघुशंका के बाद मूत्रेन्द्रिय को न धोने से गंद इकट्ठा होकर फोड़े-फुन्सी पैदा कर देता है। मुण्डाग्र-चर्म के अन्तःपृष्ठ पर कई छोटी-छोटी ग्रन्थियाँ होती हैं, जिनमें से एक ख़ास प्रकार का स्राव निकलता है। इस चर्म को धीरे से मुण्ड पर से हटाकर स्राव को धो डालना चाहिए, नहीं तो वह इकट्ठा होकर उत्तेजना और बेचैनी पैदा करता है। कई अवस्थाओं में मुण्डाग्र-चर्म बहुत तंग होने से पीछे को नहीं हटता,

इस प्रकार शिश्न-मुण्ड का मुख न खुलने से वह ठीक तौर पर खुल नहीं सकता। किसी-किसी का यह चर्म बहुत लम्बा और चिपका रहता है। ऐसी अवस्थाओं में आगे बढ़े हुए मुण्डाग्र-चर्म को किसी कुशल शल्य-चिकित्सक से कटवा डालना चाहिए, ताकि तत्सम्बन्धी बहुत-से दुःख तथा रोग न हो सकें। नवयुवकों की ७५ फीसदी शिकायतें दूर हो जायँ, यदि वे धीरे-से मुण्डाग्र-चर्म को शिश्न-मुण्ड से हटाकर उसे शुद्ध, शीतल जल से धो लिया करें। मुण्डाग्र-चर्म में शरीर की ज्ञान-वाहिनी शिराएँ पहुँचती हैं, अतः यह स्नान सम्पूर्ण मस्तिष्क में शीतलता पहुँचा देता है, और बालक अनुचित उत्तेजना से बचा रहता है। लूई कुह्नी की 'जल-चिकित्सा' में यह स्नान स्नायुओं को शीतलता पहुँचाने के लिये दिया जाता है।

मुण्ड

मूत्र-प्रणाली का मुख कोणाकार होता है, इसे मुण्ड (ग्लैंस) कहते हैं। इसमें अनेक वसामय ग्रन्थियाँ होती हैं, जिनसे एक प्रकार का स्राव निकलता रहता है। इस स्राव को हमेशा धोकर साफ कर देना चाहिये। जैसा पहले लिखा जा चुका है, इन अंगों का प्रक्षालन न होने से युवकों को अनेक कष्ट उठाने पड़ते हैं। गन्दगी से उत्तेजना और शोथ हो जाती है। मुण्ड की त्वचा बड़ी नाजुक होती है, क्योंकि मेरु-दण्ड की अनेक ज्ञान-वाहिनी शिराएँ इसमें समाप्त होती हैं। इस भाग को खुला न रखना चाहिये और न धोने के सिवा अन्य किसी समय छूना ही चाहिये।

शिश्न की सारी लम्बाई में से होकर गुज़रनेवाली प्रणाली को

मूत्र-प्रणाली मूत्र-प्रणाली या अँगरेज़ी में यूरिथ्रा कहते हैं। शिश्न की तरह इसके भी दो कार्य हैं—मूत्राशय में स्थित मूत्र को बाहर निकालना; शुक्राशय में स्थित शुक्र को बाहर निकालना। मूत्र-प्रणाली के यद्यपि दो कार्य हैं, तथापि एक समय में यह एक ही काम करती है। मूत्र-प्रणाली का रास्ता मूत्राशय (ब्लैडर) तक जाता है। अन्दर से यह वैसी ही श्लेष्म-कला—झिल्ली—से ढकी होती है, जैसी मुख तथा गले के भीतर पाई जाती है। मूत्र-प्रणाली को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—

१. स्पञ्जी मूत्र-प्रणाली:—यह शिश्न के मुख से छः इञ्च अन्दर तक फैली होती है। इसके चारों तरफ़ ऐसी मांस-पेशियाँ होती हैं, जिनकी सहायता से मूत्र, वीर्य या अन्य कोई श्लेष्मामय पदार्थ सुगमता से शरीर के बाहर आ जाता है।

२. कलामय मूत्र-प्रणाली:—यह मूत्र-प्रणाली का मध्यवर्ती भाग है, जो कि स्पञ्जी मूत्र-प्रणाली की समाप्ति से अष्ठीला-ग्रन्थि (प्रोस्टेट ग्लैंड) तक फैला रहता है। इस हिस्से की लम्बाई लगभग एक इञ्च होती है। इस भाग की मांस-पेशियाँ किसी रोग के कीटाणु को बाहर से भीतर आते हुए रोकती हैं और मूत्राशय में स्थित मूत्र के द्वार को वश में रखती हैं।

३. अष्ठीलागत मूत्र-प्रणाली:—यह मूत्र-प्रणाली का अन्तिम हिस्सा है, जो अष्ठीला-ग्रन्थि के बीच में से होकर मूत्राशय के

मुख तथा शुक्र-वाहिनी नाड़ियों से मिल जाता है। यह प्रणाली चारों तरफ से अष्ठीला-ग्रन्थि से घिरी रहती है। साधारणतः यह १½ इञ्च लम्बी होती है। अष्ठीला-ग्रन्थि के रोगों का अष्ठीलागत मूत्र-प्रणाली पर असर पड़ता है। अष्ठीलागत मूत्र-प्रणाली में ही लघुशंका तथा जनन-सम्बन्धी इच्छा की ज्ञान-वाहिनियों के केन्द्र रहते हैं।

कूपर की ग्रन्थियाँ

कलामय मूत्र-प्रणाली की समाप्ति पर मटर के बराबर दो पिण्ड होते हैं, जिन्हें कूपर की ग्रन्थियाँ कहते हैं। ये प्रणाली के दोनों ओर शिश्न के मूल के बहुत समीप स्थित होती हैं। जब उत्तेजना होती है, तब इनमें से एक द्रव स्रवित होकर मूत्र-प्रणाली में चला जाता है, जो कि विशुद्ध एवं क्षारीय श्लेष्मा का होता है। मूत्र की प्रतिक्रिया अम्ल होती है। यही कारण है कि मूत्र के मूत्र-प्रणाली में से बार-बार गुजरने के कारण मूत्र-प्रणाली की प्रतिक्रिया भी अम्ल ही रहती है। यदि मूत्र-प्रणाली में प्रकृति द्वारा यह चिकना क्षारीय द्रव स्रवित न हो, तो वीर्य-कण की जीवनी-शक्ति अम्ल द्वारा अवश्य नष्ट हो जाय। कूपर की ग्रन्थियों से स्रवित श्लेष्मा मूत्र-प्रणाली की अम्ल-प्रतिक्रिया को उदासीन कर देता है। इस प्रकार वीर्य-कण के लिये क्षारीय मार्ग बन जाता है।

उत्तेजना के समय, कूपर की ग्रन्थियों का स्राव, अनेक बार वीर्य के बिना भी निकल जाता है। नौजवानों को कुछ पता नहीं होता, वे समझने लगते हैं कि उनका वीर्य नष्ट हो रहा है।

झट वे नीम-हकीमों का आसरा ढूँढ़ने लगते हैं। वे भी अच्छा शिकार हाथ लगा जान, और सम्भवतः कुछ न जानते-बूझते होने के कारण भी, बेचारे को डराने लगते हैं। यदि कोई यमराज के इन दूतों के पल्ले सीधा नहीं पड़ता, तो इश्तिहारों के ज़रिये तो ज़रूर ही इनके क़ाबू आ जाता है। इश्तिहारों की भाषा इतनी चुस्त होती है कि जो आदमी समझता भी हो कि दवाइयों से कुछ नहीं बनता, वह भी कभी-न-कभी किसी दवा को आजमाने को सोचने ही लगता है, हालाँकि इन दवाइयों से हानि-ही-हानि होती है। स्वयं वीर्य-नाश हो जाना ऐसे ही बैठे-बैठे किसी को नहीं होता। कूपर की ग्रन्थियों के स्राव को अक्सर वीर्य समझकर नौजवान डरने लगता है। बिना मानसिक उत्तेजन के वीर्य-नाश तभी होता है, जब किसी ने अपने को बहुत अधिक गिरा लिया हो।

अष्ठीला-ग्रन्थि

इस अवयव का कुछ भाग ग्रन्थियों से और कुछ मांस-पेशियों से मिलकर बना है। यह मूत्राशय की ग्रीवा के नीचे स्थित होता है और उस स्थान पर मूत्र-प्रणाली को चारों तरफ से घेरे हुए रहता है। अथवा यों कह सकते हैं कि मूत्र-प्रणाली अष्ठीला-ग्रन्थि (प्रोस्टेट ग्लैंड) में से होकर मूत्राशय के साथ मिलती है। इसी कारण मूत्र-प्रणाली के तीसरे भाग को 'अष्ठीलागत मूत्र-प्रणाली' कहते हैं। यह एक छल्ले की तरह मूत्राशय के मुख तथा मूत्र-प्रणाली के जोड़ पर लगा होता है। साधारणतः यह 1½ इञ्च लम्बा और सवा तोले से कुछ अधिक भारी होता है।

इसका जनन-प्रक्रिया से विशेष सम्बन्ध है, इसीलिये अण्ड-कोष निकाल देने पर यह नष्ट हो जाता है। वृद्धावस्था में भी यह स्वभावतः क्षीण हो जाता है। जननेन्द्रिय के मिथ्यायोग वा अतियोग से बुढ़ापे में कइयों को अष्ठीला की वृद्धि की शिकायत हो जाती है, जिससे मूत्र-मार्ग में रुकावट होना स्वाभाविक है। कामोत्तेजना के समय इस ग्रन्थि की प्रणालिकाएँ विशेष प्रकार के स्राव से भर जाती हैं। यह स्राव मूत्र-प्रणाली में जाकर वीर्य के साथ मिलकर उसका हिस्सा बन जाता है। कूपर की ग्रन्थियों की तरह यह ग्रन्थि भी काम-भाव के समय ही स्रवित होती है, परंतु स्मरण रखना चाहिये कि इसका स्राव भी वीर्य नहीं है।

शुक्राशय

शुक्र दो झिल्लीदार थैलियों में रहता है, जो मूत्राशय के आधार तथा गुदा के बीच स्थित होती हैं। अण्डकोषों से स्रवित वीर्य इनमें संचित होता है। काम-भाव उत्पन्न होने पर इनमें से भी एक द्रव निकलता है, जो उत्पादक अंगों के अन्य स्रावों में मिल जाता है। इन स्रावों का उद्देश्य वीर्य-कण को तैराते-तैराते बाहर बहा ले जाना भी होता है। शुक्राशय कई कुण्डलियों तथा कक्षों का बना हुआ है। इनका तंग सिरा अष्ठीला-ग्रन्थि की तरफ़ होता है। इसकी औसतन लम्बाई २½ इञ्च होती है। इनमें वीर्य रहता है। यह वीर्य या तो शरीर में खप जाता है, या दो शुक्रसारिणी प्रणालियों द्वारा, जो इकट्ठी ही अष्ठीला-ग्रन्थि में से गुजरकर अष्ठीलागत मूत्र-प्रणाली में खुलती हैं, बाहर निकल जाता है। शुक्राशय को

स्थिति को जानकर अब यह समझना कठिन नहीं कि नाभि और जनन-शक्ति का कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है। लगभग शुक्राशय की सीध में, रीढ़ की हड्डी में, जनन-सम्बन्धी अंगों को नियमित रखनेवाला बड़ा केन्द्र है, जिसे अंग्रेजी में 'लम्बर-प्लॅक्सस' कहते हैं। इसीलिये सन्ध्या करते हुए 'जनः पुनातु नाभ्याम्'—अर्थात् सबका उत्पादक परमात्मा हमारी नाभि में स्थित जनन-शक्ति को पवित्र करे—इस वाक्य का उच्चारण किया जाता है।

शुक्राशय का स्राव एलब्यूमिन और क्षारीय लवणों के जलीय घोल का बना होता है। प्रकृति ने शुक्राशय में इस स्राव को खास दृष्टि से तैयार किया है। यह पता लगा है कि वीर्य-कण स्त्री की जननेन्द्रिय में रजःकण की प्रतीक्षा में कई दिन तक भी पड़ा रहता है। यदि वीर्य-कण शीघ्र ही रजःकण से संयुक्त हो जाय, तो बड़ी स्वस्थ और बलवान् सन्तान उत्पन्न होती है। यदि उसे प्रतीक्षा करनी पड़ती है, तब उसकी पुष्टि के लिये शुक्राशय से निकले हुए एलब्यूमिन तथा प्रोटीन और जीवन की रक्षा के लिये लवण आवश्यक होते हैं।

स्वप्न में शुक्राशय से वीर्य-स्खलन को स्वप्नदोष कहते हैं। इसका मुख्य कारण बुरे स्वप्नों से शरीर तथा मन का उत्तेजित हो जाना है। ऐसे स्वप्नों का शुक्राशय पर प्रभाव पड़ता है और वीर्य स्खलित हो जाता है। इससे बचने के लिये मानसिक पवित्रता आवश्यक है। धार्मिक पुस्तकों तथा महापुरुषों के जीवनों के मनन से मन उत्तम विचारों से भर जाता है। उत्तम

पुस्तकों के अच्छे, चुने हुए स्थलों का बार-बार दोहराना मन को पवित्र रखने के लिये बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ है।

कई बार स्वप्नदोष का कारण सिर्फ शारीरिक होता है। जैसा पहले बतलाया जा चुका है, शुक्राशय गुदा और मूत्राशय के बीच में स्थित है। गुदा और मूत्राशय जब भरे हुए होते हैं, तब उनका शुक्राशय पर अनुचित दबाव पड़ता है, जिससे उत्तेजित होकर वीर्य स्खलित हो सकता है। इसलिये जिन्हें स्वप्नदोष की शिकायत हो, उन्ह रात को सोने से पहले आँतों और मूत्राशय को साफ कर लेना चाहिये।

अण्डकोश

यहाँ तक हमने उत्पादक अंगों का वर्णन इस क्रम से किया है, जिससे वे एक दूसरे से क्रम-पूर्वक सम्बद्ध हैं, परतु अगले अवयवों को समझने के लिये अण्डकोश-सम्बन्धी ज्ञान की पहले आवश्यकता है, अतः हम क्रम बदलकर उन्हीं से चलते हैं, ताकि समझने में कठिनता न हो।

अण्डकोश त्वचा की थैली है, जिसमे छोटी-छोटी तहें लगी हुई हे। इसमें दो अण्ड, एक दाईं तथा दूसरा बाईं ओर, रहते हैं। किशोरावस्था में कुछ घुँघराले बाल इस त्वचा पर निकल आते हैं। इस त्वचा को धोकर खूब साफ रखना चाहिये, नहीं तो खुजली होने लगती है। यह थैली अन्दर से एक पतली तह के द्वारा दो भागों में, दोनों अण्डों के अलग-अलग रहने के लिये विभक्त होती है। मनुष्य के स्वास्थ्य को अण्डकोशों की स्थिति ठीक बता सकती है। बच्चों, स्वस्थ और बलवान् लोगों का कोश
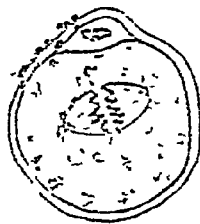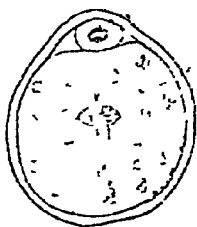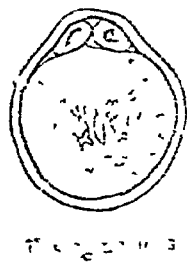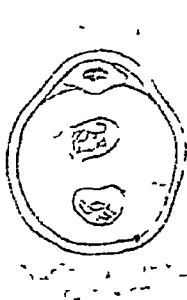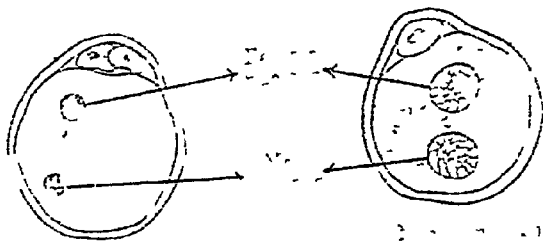
ओवम का कोष्ठ-विभजन

सटकर सुकड़ा रहता है, सर्दी में भी ऐसा ही होता है; वृद्धों, कमजोरों, क्षीण पुरुषों के तथा गर्मी के समय कोश लम्बे तथा पिलपिले से हो जाते हैं। इन कोशों में अण्ड, वीर्य-वाहिनी रज्जु द्वारा, लटके रहते हैं। यह रज्जु दाईं की अपेक्षा बाईं ओर अधिक लम्बी होती है, जिससे बायाँ अण्ड दाएँ की अपेक्षा अधिक नीचे को लटका होता है। कई अवस्थाओं में बच्चे के उत्पन्न होने के कुछ देर बाद अण्ड उतरकर अण्डकोश में आते हैं। व्हेल मछली तथा हाथी में अण्ड जीवन-भर उनकी कोष्ठगुहा (एबडोमिनल कैविटी) में ही रहते हैं। मनुष्य तथा अन्य प्राणियों में ऐसा नहीं होता। यदि कहीं पाया भी जाय, तो वह अपवाद समझना चाहिए।

अण्ड

बच्चे के पैदा होने से पहले अण्ड, कोष्ठगुहा में रहते हैं और उत्पत्ति के बाद उतरकर कोश में आ जाते हैं। कई अवस्थाओं में अण्ड उतरकर कोश में नहीं आते, जिसका फल यह होता है कि उनकी वृद्धि और कार्य शिथिल हो जाते हैं। कभी-कभी सिर्फ एक अण्ड प्रकट होता है। ये चपटे, अण्डाकार तथा पौने औंस से एक औंस तक भारी होते हैं। दायाँ बाएँ से बड़ा और भारी होता है। यह स्मरण रखना चाहिये कि इनका आकार नहीं, अपितु स्वास्थ्य ही इनके कार्य में सहायक होता है। पुरुष के अण्ड की तरह स्त्री में 'ओवरी' होती हैं, जिनसे एक रजःकण प्रतिमास मासिक धर्म के बाद निकलता है। स्त्री की 'ओवरी' शरीर के

भीतर स्थित होती हैं। प्रचलित भाषा में अण्डकोश शब्द को अण्ड के अर्थों में प्रयोग होता है।

प्रत्येक 'अण्ड' कई खण्डिकाओं (लोब्यूल्स) से मिलकर बनता है। ये ख़ास प्रकार की गाँठें होती हैं, जो

खण्डिका

बहुत ही बारीक प्रणालिकाओं के जाल से बनी होती हैं। वह जाल भी भीतर-बाहर से सूक्ष्म रक्त-वाहिनियों से आच्छादित रहता है। इन खण्डिकाओं में ही वीर्य-कण बनते हैं, सम्भवतः इसीलिये संस्कृत में इसे 'अण्ड' कहा गया है।

खण्डिकाओं की बारीक प्रणालिकाएँ मिलकर एक बड़ी प्रणालिका में मिलती हैं और ये बड़ी प्रणालिकाएँ भी मिलकर एक और बड़ी प्रणालिका में

उपाण्ड

मिलती हैं, जिसे 'उपाण्ड' (एपीडिडीमस) कहते हैं। ये अण्ड को कुछ ऊपर से और कुछ नीचे से आवृत करती हैं और लगातार दोहरे होते हुए बण्डलों की-सी बनी होती हैं। अण्ड की बहिःनिस्सारक-प्रणाली का यह प्रारम्भिक भाग है और अण्ड में से निकलता हुआ वीर्य-कण पहले-पहल इसी में इकट्ठा होता है।

काम से उत्तेजित होने पर अण्ड में शुक्र-कण बनकर उपाण्ड में आ जाता है। यहाँ से धक्का पाकर वह जिस बहिःनिस्सारक-प्रणाली में पहुँचता है, उसे

शुक्र वाहिनी

शुक्रवाहिनी (वॉस डेफ़रन्स) कहते हैं। इसमें से होकर शुक्र शुक्राशय में, जिसका वर्णन पहले हो चुका है, चला जाता है। शुक्र-वाहिनी का व्यास पेंसिल के सिक्के के बराबर और लम्बाई

लगभग दो फीट होती है। यह मूत्राशय के नीचे से होती हुई कोष्ठ की दीवार के सहारे ऊपर चढ़कर शुक्राशय से मिल जाती है।

शुक्राशय से वीर्य दो शुक्र-सारिणी-प्रणालियों द्वारा, जो ¾ इञ्च लम्बी होती हैं, मूत्र-प्रणाली में से निकलता है। यदि पूयमेह आदि रोग अष्ठीला-गत मूत्र-प्रणाली तक फैल जाय, तो वह अवश्य ही शुक्र-सारिणी-प्रणाली के द्वारा शुक्राशय, शुक्र-वाहिनी, उपाण्ड और अण्डकोश तक फैलकर सम्पूर्ण उत्पादक अंगों को आक्रान्त कर लेता है।

शुक्र-सारिणी प्रणाली

जब काम-भाव से अण्डकोशों में उत्तेजना होती है, तो उनमें से हजारों शुक्र-कण निकल-निकलकर शुक्र-वाहिनी से शुक्र-सारिणी तक सम्पूर्ण अंगों को भर देते हैं। शुक्र-कण की एक पूँछ-सी होती है, जो अपने गात्र से लम्बी होती है। इसे सूक्ष्म-वीक्षण यंत्र द्वारा ही देख सकते हैं। शुक्र-कणों को अँग्रेजी में 'स्पर्मटोज़ोआ' कहते हैं। ये एक द्रव में तरते रहते हैं, जिसे 'वीर्य' कहते हैं। ये अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं, एक बार के वीर्य-स्खलन में २ करोड़ से ५ करोड़ तक शुक्र-कण पाये गये हैं। इनमें से प्रत्येक में रज:कण से संयुक्त होकर नव-जीवन उत्पन्न करने की शक्ति होती है। शुक्र-कण स्त्री के शरीर में प्रविष्ट होकर रज:कण की खोज में इधर-उधर घूमने लगता है, और उसके मिलते ही उससे संयुक्त हो जाता है। यदि रज:कण स्त्री के शरीर में उस समय तैयार न हो, तो

शुक्र-कण

वह कई दिन तक उसकी प्रतीक्षा में वहीं ठहरता है अथवा उसकी ढूँढ़ में स्त्री की 'ओवरी' तक पहुँच जाता है। यदि रजःकण से उसका मिलाप नहीं होता, तो वह बाहर बह जाता है। प्रत्येक शुक्र-कण तथा रजःकण माता-पिता के भिन्न-भिन्न गुणों का प्रतिनिधि होता है। यही कारण है कि सब भाई एक-से न होकर भिन्न-भिन्न गुणों के होते हैं। किसी में एक गुणवाले वीर्य-कण का विकास हुआ होता है, किसी में दूसरे का। इसी कारण कभी-कभी दादे और पोते के गुणों में समानता पाई जाती है। पिता में शुक्र-कणों के जिन गुणों का विकास नहीं हुआ होता, पुत्र में उनका हो जाता है।

शुक्र-कण पर शराब आदि मादक द्रव्यों का असर झट पड़ता है। और किसी के लिये नहीं तो बच्चे की ही ख़ातिर मादक द्रव्यों से प्रत्येक गृहस्थी को बचना चाहिये। यद्यपि वीर्य-कण अनगिनत होते हैं, तथापि इनमें से केवल एक ही रजःकण के भीतर प्रविष्ट हो सकता है। फिर, शेष सब घुल जाते हैं। गर्भ रह जाने पर स्त्री-संग से भ्रूण की वृद्धि में बाधा होती है। इस बात को सदैव स्मरण रखना चाहिये कि एक वीर्य-कण के रजःकण से संयुक्त हो जाने पर फिर कोई शुक्र-कण रजःकण से संयुक्त नहीं हो सकता। संयोग हो चुकने पर लाखों शुक्र-कण भी भ्रूण की वृद्धि में कोई सहायता नहीं पहुँचा सकते; हाँ, हानि जरूर पहुँचा सकते हैं। अनेक युवक इस छोटे-से सिद्धांत से अपरिचित होने के कारण जीवन में ख़राब होते हैं।

बड़े-बड़े वैज्ञानिकों का कथन है कि पुरुष के शुक्र-कण २५ वर्ष तथा स्त्री के रजःकण १६ वर्ष से पहले परिपक्व नहीं होते। इससे पहले बाल-विवाह अथवा अन्य कुचेष्टा द्वारा मनुष्य की ज्ञान-वाहिनी शिराओं पर दबाव पड़ने से शरीर चीण होता है। यदि ये शुक्र-कण बाहर न निकलें, तो जहाँ ये नए जीवन को उत्पन्न कर सकते थे, वहाँ मनुष्य में ही शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक नव-जीवन का संचार कर सकते हैं।

वहुत थोड़े लोग शुक्र-कण तथा वीर्य में भेद समझते हैं।

शुक्र वा वीर्य

'शुक्र'-कण (स्पर्म) अण्डकोशों से पैदा होते हैं; 'वीर्य' कई स्रावों का, जिसमें शुक्र-कण, शुक्राशय का स्राव, अष्ठीला तथा कूपर की ग्रन्थियों का स्राव भी सम्मिलित है, नाम है। वीर्य का रंग दुधियाला तथा प्रतिक्रिया कुछ-कुछ क्षारीय होती है। वीर्य की रासायनिक परीक्षा से ज्ञात हुआ है कि इसमें कैलसियम तथा फ़ासफोरस की बहुत अधिक मात्रा होती है। जीवन के लिये ये दोनों ही अत्यंत आवश्यक हैं, इसीलिये वीर्य-नाश का शरीर पर घातक असर होता है।

जिस प्रकार पुरुष के अण्डकोष शुक्र-कण उत्पन्न करते हैं,

रजःकण

इसी प्रकार स्त्री के बीजकोष (ओवरी) रजःकण का निर्माण करते हैं। पुरुष की तरह स्त्री के भी दो बीजकोष होते हैं, जो आकृति तथा परिमाण में अण्डकोषों जैसे ही होते हैं। गर्भाशय की एक-एक तरफ़ एक-एक बीजकोष मांस-पेशियों से लटका रहता है। पुरुष के अण्डकोषों की तरह

ये शरीर के वाहर तथा नीचे नहीं आते। बीजकोषों के साथ एक-एक प्रणालिका रहती है, जिसे 'फैलेपियन-ट्यूब' कहते हैं। बीजकोषों से रजःकण इसी ट्यूब में से होकर गर्भाशय में पहुँच जाता है। वहीं शुक्र-कण के संयोग से नया जीवन बनता है। एक घन इञ्च में २४० रजःकण रक्खे जा सकते हैं। शुक्र-कण बड़ा फुर्तीला, और रजःकण बड़ा सुस्त होता है। इनकी संख्या भी उतनी नहीं होती। साधारणतः एक सप्ताह में एक ही रजःकण परिपक्व होता है। स्वाभाविक तौर से स्त्री का रजःकण उसके गर्भाशय में पहुँच जाना चाहिए। वहाँ पर यदि उसका शुक्र-कण से संयोग होगा, तो गर्भ ठहर जायगा। कई बार आकस्मिक कारणों से रजःकण का स्वाभाविक मार्ग रुक जाता है। उस समय रजःकण अपने उत्पत्ति-स्थान 'ओवरी' की पीठ से ही चिपट जाता है—आगे गर्भाशय तक नहीं पहुँच पाता। ऐसी अवस्था में यदि वीर्य-कण वहाँ आ पहुँचे, तो वहीं गर्भ बढ़ने लगता है। अनेक अवस्थाओं में अन्य दूसरे स्थानों पर रजःकण पहुँच जाता है और शुक्र-कण के मिलने से वहीं गर्भ बनकर विकृतावस्था पैदा हो जाती है, जिसे दूर करने के लिये शायद डॉक्टर का नश्तर ही एकमात्र उपाय रह जाता है। अनेक अवस्थाओं में नश्तर भी काम नहीं देता और माता की मृत्यु हो जाती है।

डॉसन महाशय अपनी पुस्तक 'कॉज़ेशन ऑफ़ सेक्स' में लिखते हैं कि लड़का या लड़की होने में पिता का नहीं, परंतु माता का असर पड़ता है। यदि माता के दाएँ बीज-कोश से रजःकण आया है,

तो लड़का होगा, यदि बाएँ से, तो लड़की। प्रत्येक महीने एक कोश से एक रज:कण निकलता है। इस प्रकार यदि १५ नवंबर, १८९५ को लड़की पैदा हुई हो, तो गर्भ के २८० दिन या सात दिन के ४० सप्ताह निकाल देने पर पता चलेगा कि फरवरी के प्रथम सप्ताह में गर्भ रहा होगा। अतः फरवरी १८९५ का रज:कण बाईं तरफ का होगा। यहाँ से हिसाब शुरू हो सकता है। यदि स्त्री के फरवरी मास में गर्भ न ठहरकर मार्च में ठहरता, तो दाईं तरफ के रज:कण से गर्भ होता, अतः लड़की होने की जगह लड़का होता। इस प्रकार पहली सन्तान होने के बाद अगली सन्तानों के विषय में कहा जा सकता है कि लड़का होगा या लड़की। इसी नियम के आधार पर इच्छा-पूर्वक भी सन्तान हो सकती है, ऐसा उनका मत है।

पञ्चम अध्याय

किशोरावस्था, यौवन तथा पुरुषत्व

चौदह वर्ष की आयु से पहले बच्चे की शारीरिक उन्नति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आता। इसके अनन्तर रहस्य-मय समय प्रारम्भ होता है। १५ वर्ष के बालक की आँखों में से उसके हृदय-रूपी पन्नों पर लिखी हुई भाषा मानो रह-रह-कर बोल-सी उठती है। बचपन की सरलता उनमें नहीं होती। वे भावपूर्ण होती हैं, देखनेवाले से बात करती-सी मालूम देती हैं, नौजवानों के दिल के पर्दों को खोल-खोलकर सामने रख देती हैं! कौन युवक अपने दिल में उमड़ते भावों को छिपाना नहीं चाहता, परंतु किसकी आँखें उसकी एक-एक हरकत का फ़ोटो खींचकर सबके सामने नहीं रख देता?

इस आयु में मानसिक परिवर्तनों के अतिरिक्त शारीरिक परिवर्तन भी पर्याप्त होते हैं। ये सब परिवर्तन १५ वर्ष की आयु से लेकर २५ वर्ष की आयु से पूर्व समयानुसार हो चुकते हैं। जीवन का यह समय रहस्यों से भरा रहता है। इस २५-१५= १०.वर्ष के समय में प्रत्येक युवक का मस्तिष्क अनेक गुप्त तथा छिपी बातों के ढूँढ़ने में अकेला ही व्यस्त रहता है। इस समय को दो भागों में बाँटा जाता है—किशोरावस्था तथा युवावस्था।

किशोरावस्था में शारीरिक परिवर्तन प्रारम्भ हो जाते हैं। लड़कों के ऊपरले होंठ, ठोढ़ी तथा जननेन्द्रिय-प्रदेश बालों से आच्छादित हो जाते हैं। स्वर-यन्त्र की गहराई बढ़ने से उसकी आवाज़ ज़ोरदार हो जाती है। उत्पादक अंग वृद्धि पाकर जीवन के सारभूत वीर्य का सम्पादन प्रारम्भ कर देते हैं। लड़कियों को इस अवस्था में मासिक-धर्म प्रारम्भ हो जाता है। परन्तु यह युवावस्था का प्रारम्भ ही है; पूर्ण युवक तथा युवती बनने के लिये अभी काफ़ी समय की जरूरत होती है। युवावस्था का प्रारम्भ हो जाना मात्र किसी युवा पुरुष को शादी के योग्य नहीं बना देता। 'दी सायंस ऑफ ए न्यू लाइफ़'-नामक पुस्तक में डॉक्टर कोवन लिखते हैं—"यह समझना बड़ी भारी भूल है कि किशोरावस्था का प्रारम्भ विवाह के लिये अनुकूल समय है। लोगों का यह समझना कि इस समय स्त्री विवाह करने तथा सन्तानोत्पत्ति के योग्य हो गई है, भ्रम-मूलक है। शरीर-क्रिया-विज्ञान के अनुसार विवाह सदा समुन्नत-शरीर पुरुष तथा स्त्री में ही होना चाहिये। किशोरावस्था के प्रारम्भ में शरीर की अस्थियाँ पूर्ण रूप से उन्नत नहीं होतीं, जिसका अर्थ यह है कि उत्पादक तत्त्व अभी पूर्ण रूप से परिपुष्ट नहीं हुआ होता।"

युवावस्था का आगमन किशोरावस्था के बाद होता है। सीधे शब्दों में यूँ कह सकते हैं कि १५ से २५ वर्ष तक की आयु के प्रारम्भ को किशोरावस्था तथा समाप्ति को युवावस्था कहते हैं। १५ वर्ष के बाद दो या तीन साल तक किशोरावस्था

होती है, उसके बाद लगभग ८ साल तक युवावस्था में शारीरिक तथा मानसिक धन का उपार्जन करना प्रत्येक युवक का कर्तव्य है। अपनी बही में पूँजी बिना जमा किये व्यापार प्रारम्भ कर देने से जीवन का दिवाला निकल जाता है।

परन्तु किशोरावस्था का प्रारम्भ हमेशा १५ वर्ष से और नवयौवन का अन्त २५ वर्ष में होना ही निश्चित नियम नहीं है। मानवीय जीवन बड़ा लचकीला है। ये अवस्थाएँ जहाँ जल्दी आ सकती हैं, वहाँ इनमें देर भी लग सकती है। इन पर भोजन, वस्त्र तथा मनुष्य के रहन-सहन का बड़ा असर पड़ता है। जलवायु का प्रभाव भी कम नहीं पड़ता। गाँव में सादा, तपस्यामय जीवन व्यतीत करते हुए बालक में किशोरावस्था देर से आती है; भोग-विलास का अनियन्त्रित जीवन बितानेवाला लड़का छोटी ही आयु में दाढ़ी-मूँछोंवाला आदमी लगने लगता है। किशोरावस्था का समय से पूर्व आ जाना ख़तरनाक है। आशा से ज्यादा होनहार बालक सन्देह की वस्तु है। काम-भाव का जल्दी जाग जाना जीवन को नष्ट कर देता है। ऋतु में पका फल ही फल है, पाल में पकाने से उसका ताजापन मारा जाता है। माता-पिता तथा गुरुजन इस पर जितना ध्यान दें, उतना ही थोड़ा है।

हाँ, तो फिर मनुष्य के शरीर और मन में इस आकस्मिक परिवर्तन का कारण क्या है? किन रहस्य-मय कारणों से मनुष्य पहले 'किशोर', फिर 'युवा' और अन्त में 'पुरुष' बन जाता है?

इस प्रश्न का उत्तर भलीभाँति समझने के लिये ग्रन्थियों (ग्लैन्ड्स) का कुछ परिज्ञान आवश्यक है। शरीर-क्रिया-विज्ञान-वेत्ताओं की खोजों से पता चला है कि शरीर की रचना में ग्रन्थियों के स्राव बड़ा आवश्यक भाग लेते हैं। मुख में लाला-ग्रन्थियाँ (सैलीवरी ग्लैंड्स) होती हैं, जिनसे लार निकलती है। इन्हीं से मुख आर्द्र रहता है। यदि ये स्रवित न हों, तो जीना मुश्किल हो जाय। आमाशय की अपनी ग्रन्थियाँ होती हैं, जिनसे आमाशय-रस (गैस्ट्रिक जूस) निकलता है। यकृत् (लिवर), अग्न्याशय (पैन्क्रियास) और अण्ड (टेस्टिकल्स) भी स्रावक ग्रन्थियाँ हैं। इनके स्रावों में से कुछ पाचक, कुछ चिकनाई देनेवाले, कुछ बाहर निकल जानेवाले, कुछ उत्पादक तथा कुछ शरीर की रचना में भाग लेनेवाले स्राव हैं।

पहले शरीर-क्रिया-विज्ञानवेत्ता केवल उन ग्रन्थियों से परिचित थे, जो अपने स्राव को प्रणालियों द्वारा शरीर की पृष्ठ पर निकाल देते हैं—वह पृष्ठ चाहे देखने को 'श्लेष्मकला' (म्यूकस मेम्ब्रेन) की तरह अन्दर हो, चाहे 'त्वचा' की तरह बाहर। उन्हें यह भी ज्ञान था कि इन स्रावों को शरीर के भीतर या बाहर एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने के लिये स्रावक नालियाँ बनी हुई हैं। यकृत् के स्राव को अपने स्थान पर पहुँचाने के लिये अन्दर नालियाँ बनी हुई हैं; पसीने, आँसुओं के लिये बाहर। मूत्र, स्वेद, आँसू आदि स्राव बाहर निकाल फेंकने के लिये ही हैं और बहिःस्रावक प्रणालियों द्वारा

बाहर फेंके जाते हैं। यदि इन्हें शरीर के भीतर रोका जाय, तो हानि होती है। लाला, पित्त आदि स्राव शरीर के अन्दर काम आते हैं, ये फेंकने के लिये नहीं हैं और अन्तःस्रावक प्रणालियों द्वारा जहाँ इनकी जरूरत होती है, वहाँ पहुँचा दिये जाते हैं।

ज्यों-ज्यों शरीर-क्रिया-विज्ञान में उन्नति हुई, त्यों-त्यों शरीर में अन्य भी कई नवीन रचनाओं का पता चला। पहले केवल 'प्रणाली-युक्त ग्रन्थियों' का ही पता था, अब शरीर में कुछ ऐसी भी ग्रन्थियाँ मिलीं, जो प्रणाली-युक्त तो न थीं, परन्तु उनकी बनावट आदि सब-कुछ ग्रन्थियों के ही सदृश थी। उदाहरणार्थ, मस्तिष्क में 'पीनियल', ग्रीवा में 'थाईरोयड' तथा कोष्ठ में 'एड्रीनल' ग्रन्थियाँ थीं, जिनके कार्य का अभी तक पता नहीं चला था। इनमें प्रणालियाँ (डक्ट्स) नहीं होतीं। खोज के बाद पता चला कि इनकी रचना अन्य ग्रन्थियों जैसी ही होती है, यद्यपि ये 'प्रणालिका-रहित' होती हैं। डॉक्टर डोनिस वरमन अपनी पुस्तक 'दी ग्लैंड्स रैग्युलेटिंग पर्सनैलिटी' में लिखते हैं—"थाईरोयड और एड्रिनल को ग्रन्थियों की श्रेणी में अब तक इसलिये नहीं गिना गया, क्योंकि इनमें अपने स्राव के परित्याग के लिये कोई दृश्य-मार्ग नहीं है। यही कारण है कि अब इनको पृथक् श्रेणी बनाई गई है और इन ग्रन्थियों को 'प्रणालिका-रहित' (डक्टलेस) नाम दिया गया है।"

प्रणालिका-रहित ग्रन्थियों का पता लगना एक नूतन खोज थी। खोज का स्वरूप यह था कि जहाँ हमारे शरीर में

'प्रणाली-सहित' ग्रन्थियाँ हैं, वहाँ 'प्रणाली-रहित' ग्रन्थियाँ भी हैं। प्रणाली-सहित ग्रन्थियों के स्राव प्रणालियों द्वारा किसी पृष्ठ पर पहुँचते हैं, अतः उन स्रावों को 'बहिःस्राव' (एक्सटरनल सिक्रीशन) कहते हैं; प्रणाली-रहित ग्रन्थियों के स्राव प्रणालियों के बिना अन्दर-ही-अन्दर खपते रहते हैं, अतः उन्हें 'अन्तःस्राव' (इन्टरनल सिक्रीशन) कहते हैं। शरीर-क्रिया-विज्ञान-वेत्ताओं का कथन है कि कुछ ग्रन्थियाँ ऐसी हैं, जो केवल अन्तःस्राव की रचना करती हैं, जैसे थाईरोयड और एड्रीनल; कुछ ऐसी हैं, जो केवल बहिःस्राव का निर्माण करती हैं, जैसे लाला और आमाशय-ग्रन्थि; और कुछ ऐसी भी हैं, जो अन्तः तथा बहिः दोनों स्रावों को बनाती हैं, जैसे यकृत्, अग्न्याशय और अण्डकोश।

किशोरावस्था में शारीरिक तथा मानसिक परिवर्तन होने का कारण अण्डकोशों का ही अन्तः तथा बहिःस्राव है। तभी जिन व्यक्तियों के अण्डकोश निकाल दिये जाते हैं, उनमें पुरुषत्व नहीं आता। एक ही आयु तथा एक ही वंश के दो बछड़े लेकर उनमें से एक के अण्डकोश काट दिये जायँ, और दूसरे के प्राकृतिक तौर पर बढ़ने दिये जायँ, तो साल-भर में दोनों में बड़ा भारी भेद स्पष्ट दीख पड़ेगा। जिसका अण्डच्छेद नहीं किया गया, उस प्राणी का शरीर पूर्ण रूप से विकसित, शक्तिशाली तथा असीम उत्साह से भरा हुआ होगा; परन्तु उसके साथी की गर्दन और सींग छोटे-छोटे, माथे पर जरा-से बाल तथा भोली शक्ल पर कमजोरी के निशान दिखाई देंगे। यही अवस्था घोड़े

में भी होगी। एक घोड़ा जिसका अण्डच्छेद नहीं हुआ, प्राकृतिक तौर पर ख़ूब बढ़ता है। उसकी मोटी-मोटी लचकीली गर्दन, उस पर लहरानेवाले बाल, परिपुष्ट शरीर, लम्बा क़द और मचलती चाल को देखकर राजाओं के भी दिल ललचाने लगते हैं। उसकी फुर्तीली चाल, बाँका नृत्य और रोबदार नज़र किसे नहीं लुभा लेतीं। दूसरी तरफ़ धोबी का टट्टू भी तो है, जो शहरों की गलियों में दुलत्तियाँ झाड़ता फिरता है। दोनों ही बिल्कुल भिन्न-भिन्न मार्गों पर चलते हुये उन्नत या अवनत हुए हैं। एक घोड़े के बलवान् होने का मुख्य कारण उत्पादक ग्रन्थियों की उपस्थिति तथा दूसर के कमज़ोर होने का कारण इन ग्रन्थियों का न होना है।

मुसलमान बादशाह स्त्रियों के रहने के मकानों में नपुंसकों को रक्खा करते थे और जब कभी उनकी आवश्यकता बढ़ जाती थी, तो छोटे बच्चों के अण्डकोश काटकर उन्हें इस काम के योग्य बना दिया जाता था। डाक्टर फ़्रुट लिखते हैं कि "इटली में अठारहवी शताब्दी में लगभग चार हज़ार लड़कों के अण्डकोश प्रतिवर्ष काटे जाते थे, ताकि वे गाने-बजाने का काम सफलता-पूर्वक करके जनता को ख़ुश कर सकें। इन लड़कों का पुरुषत्व मारा जाता था; उनकी पुरुषों की-सी तीखी आवाज़ नहीं रहती थी और औरतों जैसा गा सकते थे।"

अण्डकोशों के अन्तःस्राव से ही पुरुष में पुरुषत्व तथा बीजकोशों के स्राव से ही स्त्री में स्त्रीत्व आता है। यदि पुरुष के अण्डकोश निकाल दिये जायँ, तो उसमें स्त्री के-से गुण आ

जाते हैं ; स्त्री के बीजकोश निकाल दिये जायँ, तो उसमें पुरुष के-से गुण आ जाते हैं। स्त्री तथा पुरुष दोनों का क्रम-विकास इन ग्रन्थियों के कारण ही होता है। ये ग्रन्थियाँ जितनी पुष्ट या क्षीण होंगी, उतना ही व्यक्ति भी पुष्ट या क्षीण होगा। कई वैद्यों की सम्मति में तो वृद्धावस्था का कारण ही इन ग्रन्थियों का क्षीण हो जाना है। अमेरिका में ऐसे परीक्षण किये जा रहे हैं, जिनमें इन ग्रन्थियों को एक व्यक्ति के शरीर में से निकालकर दूसरे के शरीर में जोड़ देने से उसकी सारी प्रक्रिया ही बदल जाती है। पुरुष की ग्रन्थियाँ निकाल डालने से उनका पुरुषत्व रुक जाता है, इतना ही नहीं, परन्तु जिनका पुरुषत्व खो जाता है, उनके शरीर में इन ग्रन्थियों का रस डालने से खोया हुआ पुरुषत्व लौट आता है। यदि यह बात सत्य है, तो प्राचीन आर्यों का यह विचार कि ब्रह्मचर्य से मृत्यु को जीता जा सकता है, ठीक है। ब्रह्मचर्य का अभिप्राय, शरीर-क्रिया-विज्ञान की दृष्टि से, इन जनन-ग्रन्थियों को स्वस्थ रखना ही तो है। ब्रह्मचारी को जनन-ग्रन्थियों के स्राव का संयम करना चाहिये, क्योंकि इससे आयु तथा स्वास्थ्य दोनों का लाभ होता है और कुचेष्टाओं से उत्पादक ग्रन्थियाँ क्षीण हो जाती हैं।

जैसा पहले बताया जा चुका है, अण्डकोशों का स्राव भीतर तथा बाहर दोनों ओर होता है। अन्तःस्राव बचपन से ही शुरू हो जाता है। यह अन्तःस्राव शरीर में खपकर उसे हृष्ट-पुष्ट बनाता है। बहिःस्राव 'शुक्र-कण' के परिपक्व हो जाने पर

बड़ी उम्र में होता है, और यही जनन में सहायक है।

अन्तःस्राव 'लिम्फ' तथा 'रुधिर' द्वारा शरीर में खपता रहता है। इन्हीं के द्वारा यह मस्तिष्क तथा मेरु-दण्ड में जाकर सम्पूर्ण शरीर को एक अपूर्व शक्ति प्रदान करता है। इसी अन्तःस्राव के कारण घोड़ा, बैल और पहलवान एक दूसरे से बढ़-बढ़कर शक्ति दिखलाते हैं। यदि अन्तःस्राव निरन्तर होता रहे और शरीर में खपता रहे, तो शरीर के अंगों का सम-विकास होता है; भद्दा चेहरा भी सुन्दर दिखाई देता है। जिसमें ये ग्रन्थियाँ नहीं होतीं अथवा क्षीण होती हैं, उसकी शारीरिक वृद्धि रुक जाती है। उत्पादक अंगों का दुरुपयोग करने से अन्तःस्राव में बाधा पड़ती है। परिणाम-स्वरूप शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक शक्ति रुक जाती है। काम-भाव से उत्पादक ग्रन्थियाँ बहिःस्राव उत्पन्न करने लगती हैं, और यह बहिःस्राव अन्तःस्राव की उत्पत्ति को रोक देता है। अन्तःस्राव ही शरीर का भोजन है; स्वयं शरीर में खपता रहता है; वह रुका, तो शरीर की उन्नति भी रुकी। अन्तःस्राव की ही चमक सन्तों, महात्माओं के चेहरों पर दीखा करती है। यह सारे शरीर में नवजीवन का संचार किये रखता है, पुरुषत्व को बनाये रखता है। आयुर्वैदिक परिभाषा में इस अन्तःस्राव को ही 'ओज' कहते हैं; बहिःस्राव के लिये 'वीज', 'शुक्र' तथा 'रेतस्' शब्द हैं। बहिःस्राव नहीं होगा, तो वही तत्त्व अन्तःस्राव के रूप में शरीर को तेजस्वी तथा ओजयुक्त बना देगा; बहिःस्राव होने लगेगा,

तो मनुष्य तेजहीन हो जायगा।

जैसा अभी लिखा गया, अन्तःस्राव तो जन्म के साथ शुरू हो जाता है, परंतु बहिःस्राव तभी होता है, जब शुक्र-कण (स्पर्मैटोजोआ) परिपक्व हो जायँ। हाँ, युवावस्था आने पर, २५ वर्ष की अवस्था के बाद, बहिःस्राव भी धीरे-धीरे निरन्तर होने लगता है और वीर्य अत्यन्त थोड़ी-थोड़ी मात्रा में वीर्यकोश में सञ्चित होने लगता है। बहिःस्राव वीर्यकोश में जाकर या तो वहाँ से शरीर में खपता रहता है, अन्यथा वीर्यकोश के भर जाने पर निकलने की कोशिश करता है। इसका निकास तीन प्रकार से होता है—

१. या तो यह अपनी इच्छा से निकाला जाता है। वीर्यकोश के भर जाने पर पुरुष कुचेष्टाओं द्वारा वीर्य-नाश कर डालता है। इस बात को स्मरण रखना चाहिये कि इच्छा-पूर्वक वीर्य-स्खलन केवल गृहस्थी को सन्तानोत्पत्ति-मात्र के लिये उचित समय में करने से पाप नहीं होता, अन्यथा दूसरे किसी भी उपाय से वीर्य-जैसे बहुमूल्य पदार्थ के नाश से आत्म-हत्या से कम पाप नहीं लगता।

२. या यह स्वयं निकल जाता है। वीर्यकोश की स्थिति ऐसी है कि इसके एक तरफ़ गुदा और दूसरी तरफ़ मूत्राशय है। दोनों के भर जाने से शुक्राशय पर इतना जोर पड़ सकता है कि वीर्य स्खलित हो जाय। जिसे ऐसी शिकायत हो, उसे जहाँ पेट साफ़ रखना चाहिये, दस्त के समय जोर नहीं लगाना चाहिये, वहाँ

अँग्रेज़ी में 'स्पर्मेटोज़ोआ' या शुक्र-कण कहते हैं। मनुष्य का शरीर जब परिपक्व हो जाता है, तभी यह बहिःस्राव होता है। यह जीवन में निरंतर नहीं होता रहता। स्वाभाविक जीवन व्यतीत करनेवाले पुरुष के शरीर में यह क्रिया २५ वर्ष की अवस्था में प्रारम्भ होती है और ५० वर्ष तक होती रहती है जैसा अभी कहा गया, शुक्र-कण एक जीवित कोष्टक है, अतः अंतःस्राव की भाँति बहिःस्राव शरीर में स्वयं जज्ब नहीं हो सकता। हाँ, योग की शक्तियों तथा विधियों द्वारा इसे भी शरीर में खपाया जा सकता है। प्राचीन भारत के आश्रमों में, जिनका नाम गुरुकुल होता था, यह विद्या सिखाई जाती थी, और जो संयमी पुरुष इस विद्या में दाखिल होते थे, उन्हें ऊर्ध्व-रेतस् या आदित्य-ब्रह्मचारी कहा जाता था, उनका वीर्य आजीवन अखण्डित रहता था। परंतु यह आदित्य-ब्रह्मचारी का जीवन सर्व-साधारण के लिये न था। जो लोग 'ऊर्ध्व-रेतस्' के रहस्यों में दीक्षित नहीं हो सकते, उनके लिये बहिः-स्राव के स्वाभाविक रूप से प्रकट होने का समय ही विवाह का समय रक्खा गया था। भारतीय शारीर-शास्त्रियों के मत में इस देश के जल-वायु में पचीस वर्ष की अवस्था में, शुक्र-कण के रूप में, बहिःस्राव उत्पन्न होने लगता है, अतः उन्होंने विवाह की आयु भी पचीस वर्ष ही बतलाई थी। स्वाभाविक जीवन व्यतीत करने-वाले व्यक्ति को बचपन, कुमारावस्था तथा युवावस्था कभी अशांत नहीं होने देतीं, उसके सम्मुख इंद्रिय-निग्रह का प्रश्न ही नहीं

उपस्थित होने पाता। पच्चीस वर्ष की अवस्था में अण्डकोशों के जीवित कोष्ठक (शुक्र-कण) टूट-टूटकर शुक्र-वाहिनी प्रणालिका में से होते हुए शुक्राशय मे प्रविष्ट होते हैं और अपनी स्वाभाविक गति से पुरुष में उत्तेजना उत्पन्न करते हैं। यदि इस अवस्था में पुरुष का स्त्री-सम्बंध हो, और संयम-पूर्वक रहा जाय, तो बहिः-स्राव का निकलना हानि-जनक नहीं होगा और न इससे शारीरिक अथवा मानसिक उन्नति मे कोई बाधा होगी। इस अवस्था में विवाह हो जाने से अंतःस्राव के कार्य में कोई रुकावट नहीं होगी और स्त्री-पुरुष दोनों को हानि के स्थान में प्रायः लाभ ही पहुँचेगा।

परंतु, शायद अस्वाभाविक जीवन के इस युग में हमें स्वाभाविकता पर विचार करने का भी अधिकार नहीं। प्रकृति-माता के सौम्य मुख पर हमने अपने घृणित कार्यों से कलंक का टीका लगा रक्खा है। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि हमारा अप्राकृतिक जीवन आजकल के बच्चों को उम्र से पहले ही पका देता है और इसीलिये छोटी ही आयु मे उनमें कृत्रिम उपायों द्वारा बहिःस्राव उत्पन्न होने लगता है। स्वाभाविक जीवन की सौम्यता कहीं देखने को भी नहीं मिलती, वह आज केवल काल्पनिक शारीर-शास्त्र का अथवा बहस का ही विषय रह गई है। वर्तमान जीवन को समझने के लिये 'अस्वाभाविक जीवन' का, अथवा 'अप्राकृतिक जीवन' का अध्ययन करने की आवश्यकता है।

खपा लेने के महत्त्व को समझें, तो दानवी प्रलोभनों में फँसने से पहले वे कई बार सोचें और गिरने से बचें। किशोरावस्था शरीर के विकास का समय है। इसी समय तो शरीर की सम्पत्ति बढ़ती है। उस मनुष्य को धिक्कार है, जो थोड़े से शारीरिक धन की गर्मी में अपने-आपको भुलाकर फ़िज़ूलख़र्ची में पड़ जाता है। वे सब बुराइयाँ, जो कामुकता उत्पन्न करके अंतःस्राव में बाधा डालती और बहिःस्राव उत्पन्न करती हैं, आज हमारे युवक-समाज में तबाही मचा रही हैं। भोग-विलास की युवक-मण्डली में कमी नहीं है। ऐसी अवस्था में अंतःस्राव मानो ख़त्म हुआ जा रहा है। बहिःस्राव का निकास उत्पादक अंगों को थकाये बिना नहीं मानता और, प्राचीन ऋषियों तथा वर्तमान शरीर-क्रिया-विज्ञान-वेत्ताओं का कथन है कि जहाँ उत्पादक अंग थके, वहाँ अंतःस्राव का निकास और अंदर-ही-अंदर खपना भी बंद हुआ।

प्रत्येक युवक को चाहिये कि अपने अंदर अंतःस्राव (ओज) और बहिःस्राव (वीर्य) दोनों को धारण करे और 'किशोरावस्था', 'यौवन' तथा 'पुरुषत्व' को क्रमिक विकास में प्रस्फुटित होने दे।

षष्ठ अध्याय

'इन्द्रिय-निग्रहः'

१. स्वाभाविक जीवन

जिन अस्वाभाविक अवस्थाओं में हम जीवन व्यतीत करते हैं, उनमें ब्रह्मचर्य का अखण्डित रहना प्रायः असम्भव-सा हो गया है, परंतु फिर भी शारीर-शास्त्र की दृष्टि से 'ब्रह्मचर्य' का अर्थ समझने के लिये, यह जान लेना आवश्यक है कि स्वाभाविक अवस्थाओं में रहते हुए ब्रह्मचर्य का अभिप्राय क्या होगा ? उस समय शरीर की आभ्यंतरिक क्रिया किस प्रकार चल रही होगी ?

जैसा पहले कहा जा चुका है, अण्डकोशों का अंतःस्राव जीवन के प्रारम्भ से अंत तक निरंतर होता रहता है। यह स्राव स्वयं ही शरीर में खपता रहता है और मनुष्य को शारीरिक तथा मानसिक उन्नति में सहायक होता है। अंदर-ही-अंदर उत्पन्न होने तथा खप जानेवाले इसी रस को 'ओज' कहते हैं। यह पट्ठों को मजबूत करता, स्नायुओं में शक्ति भरता तथा शरीर को तेजोमय बनाता है।

परंतु बहिःस्राव में तो अण्डकोशों से ही टूटे हुए छोटे-छोटे जीवित कोष्ठक बाहर निकलते हैं। इन जीवित कोष्ठकों को

योग्य चिकित्सक की सलाह भी अवश्य लेनी चाहिये, क्योंकि वीर्य का इस प्रकार स्वयं स्खलित हो जाना रोग का सूचक है।

३. या जब शुक्राशय भरा हो, तब सोते समय मन में कोई गन्दा स्वप्न आने से वीर्यपात हो जाता है। इसे स्वप्नदोष कहते हैं। कभी-कभी शुक्राशय भरा न भी हो, तो भी उपन्यासादि से दिन के समय सञ्चित किये हुए गन्द-गंदे विचार रात्रि को सोते-सोते सपने में इतनी कामुकता उत्पन्न कर देते हैं कि स्वप्नदोष हो जाता है। अतः स्वप्नदोष के दो कारण हैं—शुक्राशय का भरा होना, या बुरे स्वप्न। बुरे स्वप्नों से वीर्य-नाश हो जाने को तो एक रोग समझकर उसकी चिकित्सा करना चाहिये। प्रश्न यह रह जाता है कि यदि शुक्राशय के भर जाने से वीर्य-नाश, सोते या जागते, हो जाय अथवा किया जाय, तो वह कहाँ तक अनुचित है?

जिस किसी ने भी इस विषय पर विचार किया है, चाहे वह बीसवीं सदी का वैज्ञानिक हो, चाहे पहली सदी का कोरा पण्डित, उसी का कथन होगा कि किसी तरह से भी वीर्य-नाश अनुचित है, अत्यंत अनुचित। उत्पादक ग्रन्थियों का अन्तःस्राव (ओज) तो असंदिग्ध तौर पर शरीर में स्वयं ही खपता रहता है; बाह्य-स्राव (बीज, शुक्र) भी अभ्यास से खप सकता है और खपता है। आखिर, बहिःस्राव तो अन्तःस्राव का ही काम-भाव से बाहर निकल आना है; फिर यदि अन्तःस्राव शरीर में खपता है, तो बहिःस्राव क्यों नहीं खप सकता? बहिःस्राव के शरीर में खप जाने के परिणाम चमत्कारी होते हैं। इसमें संदेह नहीं कि

बहिःस्राव स्वयं नहीं खपेगा, शुक्राशय के भरने पर यह निकलने की कोशिश करेगा, और इसीलिये ऐसे व्यक्तियों के लिये ऋषियों ने विवाह की आयु २५ वर्ष रक्खा है। स्वाभाविक जीवन व्यतीत करते हुये २५ वर्ष में ही वीर्यकोश भरना चाहिये। परंतु २५ वर्ष निकृष्ट ब्रह्मचर्य कहा गया है। यह आदर्श नहीं है। प्राचीन काल के योगी लोग ऐसे-ऐसे अभ्यास जानते थे, जिनके द्वारा बहिःस्राव शरीर के रक्त में पुनः संचरित होकर जीवन में नूतन शक्ति भर देता था। ऐसे महात्माओं को 'ऊर्ध्व-रेता' या 'आदित्य-ब्रह्मचारी' कहा जाता था। ये ४८ वर्ष तक अखण्डित ब्रह्मचर्य का पालन करते थे। प्राचीन भारत में अद्भुत ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए किसी आध्यात्मिक गुरु की संस्था में शिक्षा प्राप्त करना आवश्यक समझा जाता था। अतीत काल के उस गुहामय गर्भ में मानव-समाज के गुरु अपने शिष्यों का आचार बनाना शिक्षा का मुख्य उद्देश्य समझते थे। उनका लक्ष्य ऊँचा था। अखण्ड शक्ति के भण्डार परमात्मा की खोज में वे जीवन बिता देते थे। उसी के ध्यान में—'मरणं बिंदु पातेन जीवनं बिंदु धारणात्'—के तत्त्व का अवगाहन कर वे वीर्य-जैसी जीवनी-शक्ति का संग्रह करते थे। युवकों को स्मरण रखना चाहिये कि सोते या जागते हुए, स्वयं हो जानेवाला या किया हुआ, किसी प्रकार का भी, वीर्यनाश जीवन के लिये घातक है।

यदि नवयुवक उत्पादक अंगों के अन्तःस्राव को शरीर में

२. अस्वाभाविक जीवन

इस समय मानव-समाज के स्त्री-पुरुष अप्राकृतिक जीवन व्यतीत कर रहे हैं, अतः सर्वत्र ही इंद्रिय-निग्रह का अत्यंत अभाव दिखाई देता है। संयम नाम-मात्र को भी नहीं रहा। इंद्रिय-संयम को मुख्यतः दो रूपों में तोड़ा जा रहा है—जान-बूझकर और बिना जाने-बूझे।

(१) जान-बूझकर संयम-हीन जीवन व्यतीत करने का अभिप्राय क्या है? यही कि शरीर तथा मन को, आँखों के खुली हुई होते हुए, विषय-वासना की कलुषित वेदी पर बलि चढ़ा दिया जाय और इस घोर पाप की ज़िम्मेवारी भी अपने ही कंधों पर हो। माना कि इस पाप में हमने खुल्लमखुल्ला अपनी सहमति न दी हो, माना कि किसी-किसी समय हमने इस गढ़े में गिरने से बचने की भी चेष्टा की हो, परंतु फिर भी प्रलोभन आने पर हम सँभल न सके; यद्यपि उस समय हमारी आँखें खुली हों, हम जाग रहे हों, परंतु फिर भी देखते-ही-देखते गढ़े में गिर पड़े। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि पाप के प्रति घृणा तथा अनिच्छा हमारी रगों में कूट-कूटकर भरी होती है; हम समझते हैं कि हमारी गिरावट में हम कारण नहीं, परंतु थोड़ा-सा अनुसंधान करने पर पता लग जाता है कि हमारी ही चेतना के एक कोने में हमारी ही 'इच्छा' का एक लचकीला तंतु, जो समय पड़ने पर विशाल रूप धारण कर लेता है, छिपा था, और उसी ने हमें

ठीक मौक़े पर धोका दिया। पहले एक साधारण-सी 'प्रवृत्ति' उत्पन्न हुई—फिर छोटो-सी 'इच्छा' बनी ; यह इच्छा अनेक बार हुई और 'आदत' या 'आचार' बन गई ; फिर वही पकती-पकती 'प्रकृति' या 'स्वभाव' हो गई—यही उपक्रम अविरत रूप से चलता है और इसमें 'जागरूक-इच्छा' की एक अविकल शृंखला दृष्टिगोचर होती है। अनिच्छा मे कहीं इच्छा का बीज छिपा हुआ रहता है, जो कभी अनुकूल परिस्थिति पाकर प्रादुर्भूत हो जाता है। ऐसी अवस्था में जब मनुष्य सहसा अपने आत्मा को किसी गिरावट के गढ़े में गिरा हुआ पाता है, तो सहसा उसके मुख से निकल पड़ता है :—

'जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः ;
जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।'

दुर्भाग्यवश, यह अवस्था जो अत्यन्त भयानक है, अत्यन्त फैली हुई भी दीख पड़ती है। हम अपने हाथों से ही अपनी इमारत की आधार-शिला को हिला देते हैं, अपने-आप आत्मिक अधःपतन के गढ़े में कूद पड़ते हैं, जानते-बूझते मृत्यु तथा सर्वनाश के मुख की तरफ़ क़दम बढ़ाते जाते हैं। इस मूर्खता की भी कोई सीमा है कि हम अपनी हत्या अपने-आप ही करते हैं! सर्वनाश, और वह भी जान-बूझकर! मृत्यु, और वह भी अपने ही हाथों!! क्या परमात्मा के राज्य मे इससे बड़ा पाप भी सोचा जा सकता है? जान-बूझकर दुराचार का जीवन व्यतीत करना ही व्यभिचार कहाता है। यह व्यभिचार, यह संयम-हीनता

कई तरह की है। मुख्यतः इसके तीन भेद हैं—आत्म-व्यभिचार (हस्तमैथुनादि), पत्नी-व्यभिचार तथा वेश्या-व्यभिचार।

(२) यह तो हुई जान-बूझकर संयम-हीनता ! बिना जाने-बूझे भी संयम टूट जाता है और यह प्रायः जागते नहीं, परंतु सोते समय होता है। इसीलिये इसे 'स्वप्नदोष' कहते हैं।

अस्वाभाविक जीवन के दो भाग किये गये हैं—जान-बूझकर संयम तोड़ना तथा बिना जाने हुए टूट जाना। जान-बूझकर संयम-हीनता को हमने तीन भागों में विभक्त किया है—आत्म-व्यभिचार, पत्नी-व्यभिचार तथा वेश्या-व्यभिचार। बिना जाने हुए संयम टूट जाने को स्वप्नदोष कहते हैं। अगले चार अध्यायों में हम इन्हीं चारों का क्रमशः विवेचन करेंगे तथा इनके कारणों, परिणामों और उपचारों पर विचार करेंगे।

सप्तम अध्याय

'इ न्द्रि य - नि ग्र हः'

[क. आत्म-व्यभिचार]

जिन अस्वाभाविक परिस्थितियों में लड़के-लड़कियाँ आजकल रक्खे जाते हैं, उनका अवश्यम्भावी परिणाम उनके शरीर तथा मन पर हुए बिना नहीं रहता। छोटी ही उम्र में उनका जीवन अशांत होने लगता है। वे हृदय में उठते मानसिक विकारों का अभिप्राय समझ नहीं पाते। जो लहरें उठती हैं, उन्हें रोकने के लिये उनकी संकल्प-शक्ति अभी अत्यंत निर्बल होती है। उनके जीवन में ऐसे क्षण बहुधा उपस्थित हो जाते हैं, जब काम-वासना से वे अन्धे हो जाते हैं, बुद्धि ठिकाने नहीं रहती। ऐसे अवसरों पर मनुष्य की अन्तरात्मा में छिपा हुआ दानव उसके दैवीय भाव पर मोह का पर्दा डाल देता है, और वह घृणित-से-घृणित पाप करने के लिये भी तैयार हो जाता है। ऐसे स्मृति-भ्रंश और बुद्धि-नाश के समय ही मनुष्य हस्त-मैथुन आदि पैशाचिक कृत्यों में प्रवृत्त होकर अपनी आत्मा का हनन कर बैठता है। एक क्षण के आनन्द के लिये वह आजन्म अपने सिर पर पाप की गठरी लाद लेता है। मनुष्य की जननेन्द्रिय कितनी पवित्र है! यह सृष्टिकर्ता की उत्पादन-शक्ति

की प्रतिनिधि है ! गंदे वातावरण में रहकर मनुष्य इसी उच्च शक्ति का अपमान कर बैठता है। कृत्रिम साधनों से—हस्त-मैथुन से, उलटा लेटकर अथवा किसी दूसरे प्रकार दबाव डालकर—जननेन्द्रिय को उत्तेजित कर देता है और शक्ति के असीम भण्डार वीर्य को खो बैठता है। यह महापातक है, अपनी आत्मा का छिपकर घात करना है, आत्म-व्यभिचार है !

यह पाप ऐसा है, जो मनुष्य छिपकर करता है और अकेला करता है, इसीलिये अन्य घृणित पापों की अपेक्षा यह सबसे ज्यादा फैला हुआ है। जो इस पाप के वेग के सम्मुख एक बार भी झुक गया, वही इसका वेगों का गुलाम बन गया। एक बार इस शत्रु के सम्मुख हारना सदा की हार को निमन्त्रण देना है। प्रतिदिन संकल्प-शक्ति कमजोर होती जाती है, प्रतिरोध करने की हिम्मत ही नहीं रहती। अन्त में यह आदत मनुष्य को इस प्रकार जकड़ लेती है कि इसके शिकञ्जे से अपने को छुड़ाना उसके लिये असम्भव हो जाता है। नवयुवकों में यह पाप महामारी की तरह फैलता है। इस विषय के जानकारों की इस विषय में बड़ी-बड़ी भयोत्पादक सम्मतियाँ हैं। कइयों का कथन है कि इसका जहर विश्वव्यापी है। अनेक चिकित्सकों की सम्मति है कि अपने जीवन-काल में प्रत्येक व्यक्ति इस रक्त-शोषिणी लत का किसी-न-किसी समय शिकार रह चुका है। पुरुषों तथा स्त्रियों, लड़के तथा लड़कियों, युवा तथा वृद्धों—सबकी डायरियों में ऐसी घटनाओं की कमी नहीं, जिन्हें याद कर-कर वे जीवन-भर पछताते

रहते हैं। यह आदत मनुष्य को शक्ति-हीन तथा जन्म का दुखिया बनाकर खाट पर पटक देती है। ऐसे लोगों की भी कमी नहीं है, जिनके विषय में संदेह भी नहीं हो सकता कि वे इस पाप-पंक में डूब रहे होंगे—परन्तु जिनके वास्तविक जीवन की एक झाँकी ही देखनेवाले को कँपा देती है! कइयों को हस्त-मैथुन की बीमारी हो जाती है, ठीक उसी तरह की बीमारी, जैसी और बीमारियाँ होती हैं। लाख कोशिश करते हैं, परतु इससे छूट नहीं सकते। मौके आते हैं, जब इस आवेग के सम्मुख घास की तरह वे झुक जाते हैं, और आवेग के निकल जाने पर शर्म के मारे उनमें मुख उठाकर ऊपर देखने तक की हिम्मत नहीं रहती!

डॉक्टर कैलोग महोदय एक डॉक्टर की राय लिखते हैं—"मेरी सम्मति में मानव-समाज को प्लेग, युद्ध, चेचक तथा इसी तरह की अन्य बीमारियों से इतना नुक़सान नहीं पहुँचा, जितना हस्त-मैथुन तथा इसी प्रकार के अन्य घृणित महापातकों से। सभ्य-समाज के जीवन को नष्ट करनेवाला यह एक घुन है, जो अपना घातक कार्य लगातार करता रहता है और धीरे-धीरे जाति के स्वास्थ्य को समूल नष्ट कर देता है।" एक दूसरे लेखक की सम्मति है—"हमें इस बात का ज़रा भी ख़याल नहीं कि हमारे लड़के-लड़कियों में आत्मा को गिरानेवाला यह महाभयंकर रोग कहाँ तक घर कर चुका है। हम भूल से समझते हैं कि वे इस रोग से बरी हैं, परन्तु आँखें खोलकर देखने से पता चलता है कि यह रोग उनके जीवन-रस का शोषण कर रहा होता है।

किशोरावस्था को पार कर युवावस्था में पग धरते हुए युवकों में अनेक निर्बलताएँ दीख पड़ती हैं। माता-पिता कहने लगते हैं कि ये युवावस्था के अवश्यम्भावी परिणाम हैं, परन्तु वास्तव में इन कमज़ोरियों का कारण भी प्रायः लड़कों का बुरी आदतों में पड़ जाना ही होता है।"

कारण

यहाँ इस बात पर विचार करना अप्रासंगिक न होगा कि नवयुवकों की हस्त-मैथुनादि घृणित कार्यों की तरफ प्रवृत्ति क्योंकर हो जाती है? मुख्यतः इस वासना के जागने के दो कारण हैं—भौतिक तथा मानसिक। यह कह सकना कि अमुक उत्तेजना का कारण भौतिक है और अमुक का मानसिक, अत्यन्त कठिन है; प्रायः प्रत्येक कामोत्तेजना में भौतिक तथा मानसिक, दोनों कारण मिले-जुले रहते हैं; भौतिक मानसिक के लिये और मानसिक भौतिक उत्तेजना के लिये भी कारण हो जाती है; परतु फिर भी जिस विषय पर हम विचार कर रहे हैं, उसे भली भाँति समझने के लिये भौतिक तथा मानसिक—इन दो भेदों का करना आवश्यक है। कामोत्तेजना के भौतिक कारणों से हमारा अभिप्राय उन कारणों से होगा, जिनमें काम-वासना की उत्पत्ति में मुख्यतः शरीर तथा अन्य भौतिक वस्तुएँ कारण हों; मानसिक कारणों से मतलब उनसे होगा, जिनमें प्रधानता मन की हो। एक अवस्था में उत्तेजना का कारण शरीर तथा बाह्य साधन हैं;

दूसरी अवस्था में वही कार्य मन द्वारा होता है—परिणाम दोनों अवस्थाओं में एक ही—उत्तेजना—रहता है।

भौतिक कारण

जब पुरुष का शरीर परिपक्व हो जाता है, अर्थात् जिस समय स्वाभाविक तौर पर बहिःस्राव उत्पन्न होकर पुरुष में काम-वासना को जागृत कर देता है, उस समय उत्तेजना उत्पन्न होने लगती है। यदि स्वाभाविक जीवन व्यतीत किया जाय, तो पच्चीस वर्ष के बाद ही यह अवस्था आती है। यह शरीर की स्वाभाविक क्रिया है। इस समय विवाह हो जाना चाहिये। यदि इस समय विवाह न हो, और लड़के-लड़कियों की संकल्प-शक्ति भी दृढ़ न हो, तो वे इस उत्तेजना को शांत करने के लिये अस्वाभाविक उपायों का अवलम्बन करने लगते हैं। शरीर की इस परिपक्वावस्था में उन लोगों का विवाह न करना, जिनकी संकल्प-शक्ति दृढ़ नहीं और रुचि भी आध्यात्मिक नहीं, भयंकर है। ऐसे लोग खुद-ब-खुद हस्त-मैथुन का आविष्कार कर लेते हैं, वे आत्म-व्यभिचार के शिकार बन जाते हैं। इस बात को स्मरण रखना चाहिये कि विवाह करके नियमित गृहस्थ-धर्म-पालन करने से शरीर को वह क्षति नहीं पहुँचती, जो हस्त-मैथुन की बुरी लत से। पति-पत्नी के प्रेम-मय, भय-रहित आलिंगन में एक प्रकार की वैद्युतिक शक्ति उत्पन्न होती है, जो दोनों के स्नायु-तन्तुओं की क्षति को पूर्ण कर देती है। हस्त-मैथुन के पैशाचिक काण्ड

में मस्तिष्क के सर्वोत्तम रस का नाश—नाश, और नाश ही होता है, इसलिये इन्द्रिय-निग्रह के इस शत्रु द्वारा मनुष्य पर जो विपदाएँ टूटती हैं, वे कहीं कठोर और कहीं भयंकर होती हैं! इसलिये स्वाभाविक शारीरिक क्रिया से, जिसका विस्तृत वर्णन पिछले अध्याय में किया जा चुका है, पके हुए व्यक्ति के लिये, उचित आयु मे विवाह कर लेना ही धर्म-शास्त्र-सम्मत है।

(१) परन्तु स्वाभाविक तौर से परिपक्व होनेवाले पुरुषों तथा उन्हें सतानेवाले ख़तरों का क्या ज़िक्र; यहाँ तो अस्वाभाविक तौर से, उचित अवस्था से पहले ही, युवावस्था में ही पुरुष बन जानेवालों की कमी नहीं है। अनेक भौतिक कारणों से उत्तेजना उत्पन्न हो जाती है। जैसा एक पिछले अध्याय में लिखा जा चुका है, यदि गुह्य-अंगों की भले प्रकार सफाई न की जाय, तो उनमें खुजली होने लगती है, छोटी-छोटी फुन्सियाँ हो जाती हैं और स्वयमेव हाथ उधर जाने लगता है। अनजान बालक को भी उत्तेजना का साधन मिल जाता है, वह हस्त-मैथुन के गुप्त रहस्यों में स्वयं ही दीक्षित हो जाता है और इस आदत का शिकार होकर यमराज की विकराल दंष्ट्राओं में पिसने के लिये मानो उतावला होकर दौड़ने लगता है। कभी-कभी जननेन्द्रिय के अगले हिस्से को ढकनेवाली चमड़ी, जिसे मुण्डाग्र-चर्म कहा जाता है, पीछे नहीं हट सकती, जिससे शिश्न-मुण्ड पर जो मैल इकट्ठा होता है, उसे पानी से साफ नहीं किया जा सकता। इससे भी खुजली उत्पन्न होती है और फिर हाथ

इधर आकर्षित होता है। हाथ केवल खुजली के लिये खिंचता है, परन्तु परिणाम कितना भयंकर हो जाता है! कैसा सर्वनाश है! परमात्मा ने पशुओं तथा मनुष्यों में यही तो भेद किया था। पशु को हाथ नहीं दिये, मनुष्य को दो हाथ दिये, ताकि वह हाथों के सदुपयोग द्वारा अपने को पशुओं से ऊपर उठा ले, परन्तु अफसोस! मनुष्य कितना कृतघ्न है, परम-कारुणिक भगवान् की सब कृपाओं को ठुकराकर वह उन्हीं हाथों से, जिनसे उसे ऊपर उठना चाहिये था, अपने को पशुओं से भी नीचे गिरा रहा है। प्राचीन आश्रमों में शिक्षा देनेवाले ऋषि ब्रह्मचर्याश्रम में प्रविष्ट होते हुए बालक को उपदेश देते थे—हाथ से इन्द्रिय-स्पर्श मत करना! इस उपदेश को सुनकर वर्तमान शिक्षा में पले हुए गन्दे दिमागों के लोग मुँह फेरकर हँसने लगेंगे, परंतु इस हँसी का जवाब, और दिल दहला देनेवाला कड़ुवा जवाब, उन नवयुवकों के चेहरों पर लिखा है, जो निरंतर उठते-वाली दिल के फोड़े की दर्द को दवाए असीम वेदना में कराह रहे हैं। उनसे पूछो, हाथ को पवित्र रखने का क्या अभिप्राय है; और उनसे पूछो, हाथ को अपवित्र करने का क्या प्रायश्चित्त है।

(२) इसके अतिरिक्त जननेन्द्रिय पर अचानक दबाव पड़ने से भी कई लड़के-लड़कियाँ हस्त-मैथुन की बुरी आदत सीख जाते हैं। डॉ० एलबर्ट मौल लिखते हैं—"घोड़े पर चढ़ना, सीने की मैशीन को पैरों से चलाना, बाइसिकल दौड़ाना तथा रेलगाड़ी की सवारी से भी उत्तेजना हो जाती है, और यह उत्तेजना ही आगे

चलकर हस्त-मैथुन की तरफ मनुष्य को प्रवृत्त कर देती है।" तभी शायद प्राचीन काल में गुरु ब्रह्मचारी को शिक्षा देते हुए कहता था—"गवाश्व हस्त्युष्ट्रादि यानं वर्जय"—जहाँ तक संभव हो, बैल, घोड़ा, हाथी, ऊँट आदि की सवारी मत कर। एक बार इस आदत का शिकार बन जाने पर लड़के बेशर्म हो जाते हैं और ख़राब होने के तरह-तरह के तरीक़े निकाल लेते हैं। एक लेखक का कथन है—"वे कुर्सी, मेज़ आदि के साथ झुककर खड़े हो जाते हैं, देखनेवाले को मालूम पड़ता है कि साधारण तौरपर यों ही खड़े हैं, परंतु वास्तव में इस स्थिति से जननेन्द्रिय पर दबाव पड़ रहा होता है। इस प्रकार बच्चे आत्म-व्यभिचार के घृणित कार्य को इतना ही नहीं कि अपने माता-पिता के सामने, परन्तु कई आदमियों के बीच में करते देखे गये हैं।" यदि उन्हें समझानेवाला कोई हो, और उन्हें स्पष्ट शब्दों में समझा दे कि इससे उत्तेजना होगी और आत्मा का पतन होगा, तो अनेक नवयुवकों का जीवन बच जाय। यह भी देखा गया है कि कई बालक पढ़ते-लिखते हुए पेट के बल लेटकर पढ़ते-लिखते हैं, परन्तु यह स्थिति भी जननेन्द्रिय पर अनुचित दबाव डालती है। इन स्थितियों का प्रयोग दुनियाँ की आँखों में धूल झोंकने के लिये किया जाता है। उस मन का पतन किस गहराई तक हो चुका होगा, जो सबके देखते-देखते अपनी आत्मा की हत्या करने पर उतारू हो जाता है, और ऐन दिन के बारह बजे इस पाप को करता हुआ अपने चारों तरफ़ की दुनियाँ को बेवक़ूफ़ समझता

है। सटी हुई पतलून और पायजामा भी कभी-कभी उत्तेजना उत्पन्न कर देते है। डॉ० बोर्नहार्ड का कथन है:—"बालक जब लघुशंका करना चाहता है, तो उसे इन्द्रिय पतलून के बाहर निकालनी होती है। प्रारम्भ मे वह इसे स्वयं नहीं कर सकता, दूसरे लोग उसके लिये यह काम कर देते हैं। कभी-कभी नौकर लोग यह करते हैं। वे बालक को इन्द्रिय से खेलना सिखा देते हैं। बड़ी अवस्था में यही आदत विकृत रूप धारण कर लेती है।" इसे रोकने के लिये डॉक्टर महाशय का कथन है कि प्रारम्भ में ६ से १४ वर्ष तक लड़कों को लड़कियों के-से खुले कपड़े पहनाने चाहियें। शायद डॉक्टर बोर्नहार्ड को भारत की धोती का पता न था, नहीं तो वह धोती का ही नाम ले देते।

(३) उत्तेजना के मुख्य कारणों में से भोजन एक है। डॉ० कैलॉग अपनी पुस्तक 'प्लेन फैक्ट्स' में लिखते हैं:—"कई लोगों का कथन है कि भोजन एक साधारण-सी वस्तु है। परन्तु यह अत्यन्त भ्रमात्मक विचार है। शरीर-क्रिया-विज्ञान की तो यह शिक्षा है कि हमारे ख़यालात भी भोजन से ही बनते है। जो आदमी अचार, मैदे की रोटी, मिठाई खाता है, टी-काफी पीता है और तम्बाकू का इस्तेमाल करता है, उसके लिये विचारों को पवित्र रख सकना आसमान में उड़ने की आशा के समान है। यदि वह पवित्र जीवन व्यतीत कर सके, तो यह एक चमत्कार होगा, परन्तु मानसिक पवित्रता का रख सकना तो उसके लिये सर्वथा असम्भव ही होगा।"

डॉ० कोवन अपनी पुस्तक 'सायन्स ऑफ ए न्यू लाइफ' में लिखते हैं:—"काम-वासना को उत्पन्न करने के कारणों में से दूषित भोजन मुख्य है। यह कल्पना करना कि बच्चे को भोजन में अण्डा, मांस, मिर्च, मसाला, मिठाई, अचार, चाय, काफ़ी और कभी-कभी शराब भी दी जाय और वह कामुकता से बचा रहे, एक असम्भव कल्पना करना है। यदि ५ या १० वर्ष की आयुवाले आसमान के फरिश्ते को भी ये भोजन खाने को दिए जायँ, तो उसमें भी आत्म-व्यभिचार की वासना उत्पन्न हो जायगी; मनुष्य के बालक का तो, जिसमें हजारों पैत्रिक कुसंस्कार पहले ही बीज-रूप से मौजूद होते हैं, कहना ही क्या!"

(४) अनेक कोमल-वयस्क बालकों के वसन्तमय नवयौवन को नौकर हर ले जाते हैं। जब बच्चा रोता है, तो दाइयाँ उसके गुह्य-अंगों पर धीमी-धीमी थपकी देती हैं, ताकि उसका ध्यान इस प्रकार उत्पन्न होनेवाले आनन्द में बँट जाय। शायद उस समय उन्हें अपने इस मूर्खता-पूर्ण उपाय के भयंकर परिणाम का ख़याल नहीं होता। परन्तु कई नौकरों तथा नौकरानियों को उन्हें सौंपे गये बच्चों के गुह्य-अंगों से खेलने में आनन्द आता है, और वे ही अपनी वासना की तृप्ति के लिये कोमल-हृदय बच्चे के मन को दूषित कर देते हैं। इसकी ज़िम्मेवारी जहाँ नौकरों पर है, वहाँ माता-पिता पर भी कम नहीं है। उन्होंने अपना काम नौकरों के सुपुर्द कर अपने बच्चे के जीवन को तबाह कर दिया। प्यारे बालक! सचमुच वह घड़ी तेरी बदनसीबी की थी,

जब तेरे माता-पिता ने तुझे अपने हाथों से किसी नौकर के सुपुर्द किया—उन मूर्ख माता-पिताओं को मालूम होना चाहिये था कि वे अपने खज़ाने की चाबी नौकरों के हाथ दे देते, तो शायद इतना नुकसान न होता, जितना उन्होंने एक जीवित आत्मा को नौकरों के हाथ दे देने से कर दिया। परन्तु नौकरों को ही क्यों कोसा जाय? कई माता-पिता तथा बच्चे के अन्य सम्बन्धी स्वयं ऐसे आँख के अन्धे होते हैं कि बच्चे की जननेन्द्रिय के साथ खेलते हैं और खिड़-खिड़ दाँत निकालते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि उनके दिल में बच्चे को बुरी आदतें सिखाना नहीं होता, परन्तु वे इतने जाहिल होते हैं कि उन्हें अपनी बेवकूफ़ी का ज़रा भी ख़याल नहीं आता। दुर्भाग्यवश, इन कुचेष्टाओं की शिक्षा बच्चों को जन्मते ही मिलनी प्रारम्भ होती है, और इसके शिक्षक वे लोग होते हैं, जो यदि उन्हें मालूम होता कि वे क्या कर रहे हैं, तो अपनी पापमय मूर्खता के लिये प्रायश्चित्त करते। उस छोटे-से बच्चे के गिर्द,—आह! उस बच्चे के गिर्द, जिसकी रक्षा करना सबका कर्तव्य था—उसी के माता-पिता, सम्बंधी, नौकर-चाकर सब मिलकर इकट्ठे हो जाते हैं! किसलिये?—षड्यंत्र रचकर उसे कुचेष्टाओं का पाठ पढ़ाने के लिये, उसका जीवन-धन लुटाने के लिये, उसे मटियामेट करने के लिये! 'सम्बन्धी' कहलाने-वाले इन राक्षसों और पिशाचों में घिरा हुआ बालक यदि बच निकले, तो बस, चमत्कार ही समझना चाहिये। ये लोग बच्चे की काम-वासना को जगाने में क्या कुछ उठा रखते हैं? यदि उसके

अभी बहुत छोटा होने के कारण कुप्रवृत्ति नहीं जागती, तो वह प्रकृति की तरफ़ से बालक की रक्षा है, इन्होंने उसके सर्वनाश में क्या कसर छोड़ी ? क्या यह कह देने से कि उनका उद्देश्य बुरा नहीं होता, वे केवल बालक को प्रसन्न करना चाहते हैं, बचाव हो सकता है ? आग से खेलनेवाले के उद्देश्य को कौन पूछता है ? उद्देश्य तुम्हारा ताक में धरा रह जायगा, और तुम्हारी करतूत थोड़े ही दिनों में वह विकराल रूप धारण कर लेगी कि तुम दाँतों तले उँगली दबाते रह जाओगे ? तुम्हारी जहालत का नतीजा थोड़े ही दिनों में तुम्हारी आँखों के सामने आ जायगा !

(५) घर छोड़कर बालक स्कूल में जाता है। अफ़सोस ! वहाँ का वातावरण भी उसके भोलेपन का, उसकी जवानी का दुश्मन है। कई लोग यह सुनकर चौंक जायँगे, और कई इस बात की हामी भरते हुए शांत रहेंगे, क्योंकि सचमुच आजकल के स्कूल बच्चों के आचार को नष्ट करने के मुख्य स्थान और मुख्य साधन हैं ! स्कूल-मास्टर किताब लेकर पढ़ाता है, और ऐन उसकी आँखों के नीचे लड़का अपनी क़ब्र खोद लेता है और 'दिये तले अँधेरा' वाली उक्ति को चरितार्थ करता है। स्कूल में किताबें पढ़ाई जाती हैं और इम्तहान की तैयारी कराई जाती है, परन्तु स्कूल की चहारदीवारी की अँधेरी गुफाओं में ही शैतान ख़म ठोककर अपने चेलों को तैयार करता है । हज़ारों निर्दोष बालकों की आत्मा स्कूल के कमरों में प्रविष्ट होते समय शुद्ध तथा पवित्र होती है, परन्तु अफ़सोस ! उन कमरों से निकलते

समय वे हस्त-मैथुन की भयंकर महामारी के शिकार बन चुके होते-हैं। स्कूलों के आत्मिक अध:पतन की कहानियाँ नई नहीं, पुरानी हैं; ऐसी-ऐसी हैं, जिन्हें सुनकर रोंगटे खड़े हो जाते हैं! हेवलाक इलिस महोदय ने अपनी पुस्तक 'सैक्सुअल सिलेक्शन इन मैन' नामक पुस्तक में एक व्यक्ति की आत्म-कथा इस प्रकार दी है:—

"मैं दस वर्ष की आयु में स्कूल में भर्ती हुआ। वहाँ स्कूल के गन्दे वातावरण में प्रचलित कुचेष्टाओं की बातचीत मेरे कान में भी पड़ी। मुझे इससे बचानेवाला—चेतावनी देने-वाला—कोई न था। मैंने इन बातों में हिस्सा लेना शुरू किया, और शीघ्र ही हस्त-मैथुनादि की आदत से परिचित हो गया। मैं जानता था कि यह बुरी लत है, पर फिर भी इसका शिकार हो गया। खुले तौर पर तो सभी लड़के हस्त-मैथुन को स्कूल में बुरा कहते थे, परंतु अन्दर-ही-अन्दर इसका बड़ा प्रचार था। इस स्कूल को छोड़कर मुझे अन्य दो स्कूलों में जाना पड़ा, उनमें भी यह आदत बहुत फैली हुई थी। लड़के अक्सर इस विषय की चर्चा किया करते थे, इसके हानि-लाभ पर भी विचार करते थे और अधिकतर यही समझा जाता था कि यह बुरी लत है। एक दिन अचानक मेरे कान में कुछ भनक-सी पड़ी, जिससे मुझे विश्वास होने लगा कि लड़कों के इस कथन में, कि हस्त-मैथुन मनुष्य को कमज़ोर बना देता है, सत्यता अवश्य है। वह भनक यह थी कि बचपन में किये गये हस्त-मैथुन के परिणाम बड़ी

उम्र में जाकर प्रकट होते हैं। उस समय मुझे सूझ पड़ा कि मुझे यह आदत छोड़नी होगी, परन्तु मेरे दिल में इस बात का डर बना रहा कि इतनी छोटी उम्र में इस आदत का शिकार बन जाने के कारण मुझे काफ़ी हानि पहुँच चुकी है।

"यद्यपि मेरा इस आदत से छुटकारा हो गया, तथापि इतनी छोटी उम्र में गिर जाने के कारण मैं कई बीमारियों का शिकार बन गया। परन्तु स्कूल में रहते हुए मैं उन दुःखों को मुँह से निकालते हुए भी डरता था, यद्यपि उनके कारण मेरा हृदय बैठा जाता था और नसें टूटी जाती थीं। परिणाम और भी भयंकर हुआ। ज्यों-ज्यों मैंने इस विषय पर पुस्तकें पढ़नी शुरू कीं, उनमें लिखे हस्त-मैथुन के दुष्परिणामों को पढ़ा, और इस पाप के लिये प्रकृति-देवी जिस निष्ठुरता से कठोर दण्ड देती है, यह सब कुछ पढ़ा, तो मेरा हृदय काँप उठा। स्कूल छोड़ने पर भी मेरा जीवन इसी प्रकार चलता रहा। चरित्र-सुधार के लिये हृदय में प्रबल भाव उठता, पिछले किये हुए पाप मूर्तिमान् होकर डरावनी शक्ल में सामने खड़े हो जाते, कँपकँपी छूटती, पश्चात्ताप होता, और हर समय पागल हो जाने का डर बना रहता। परन्तु जिस बात से मेरी जान निकली जाती थी, वह यह थी कि मुझे धीरे-धीरे पता चला कि अभी मेरा हस्त-मैथुन की आदत से पूरा-पूरा छुटकारा नहीं हुआ था। जहाँ तक मेरी जागृत-चेतना का सम्बंध था, मैं इस आदत से छूट चुका था; काम-वासना चाहे कितनी भी प्रबल क्यों न होती, मैं उसके वशीभूत न होता था। परन्तु

एक रात मैंने देखा कि सोने तथा जागने के बीच की अवस्था में, जब मनुष्य अर्धनिद्रित होता है, जब चेतना पूरी चैतन्य नहीं होती, मैं इस आदत का शिकार बन रहा था। ऐसा प्रतीत हुआ कि दैवी तथा आसुरी भावों में घनघोर संग्राम हो रहा है, और आसुरी भाव दैवी भावों को दबा रहे हैं। शायद यह अनुभव मेरा ही नहीं, जो भी इस कश्मकश में पड़े होंगे, सभी का होगा, परन्तु मुझे अपनी यह अवस्था देखकर अत्यन्त दुःख हुआ। इस आदत से छुटकारा पाने के लिये मैंने अनेक उपाय किये। अन्त मे मैं अपने को इस प्रकार बाँधकर सोने लगा, जिससे उल्टा न हुआ जा सके, और इस उपाय से मुझे इस बुरी लत से छुटकारा पाने मे बहुत-कुछ सहायता मिली।"

उक्त जीवन-कथा के साथ निम्न जीवन-वृत्तान्त भी कम शिक्षाप्रद नहीं है। यह भी उसी पुस्तक से लिया गया है :—

"मैं ७ या ८ वर्ष का था। मेरे मन, वाणी तथा कर्म में किसी प्रकार की अपवित्रता का लेश-मात्र भी न था। अपने गाँव के एक स्कूल मे मैं पढ़ने जाया करता था। बस, इस स्कूल में ही मेरे हृदय मे उन भावों का बीज बोया गया, जिन्हें पीछे से जाकर मैं पहचान सका कि ये कामुकता के भाव थे। अपने ही साथ के एक लड़के की तरफ मेरा खास झुकाव होने लगा। वह मेरी ही उम्र का था। मुझे वह बड़ा रूपवान् दीख पड़ता था। मेरे हृदय मे उस समय उस लड़के के सम्बन्ध में क्या-क्या भाव उठते थे, इसका मुझे पूरा-पूरा ज्ञान नहीं। हाँ, इतना स्मरण

अवश्य है कि मैं उसके पास रहना चाहता था, कभी-कभी उसे छू लेने की इच्छा भी होती थी। यदि वह अचानक मेरे सामने आ जाता, तो मुझे शर्म आ जाती, यदि वह मेरे साथ न होता, तो मैं उसी के विषय में सोचा करता और उन मौकों को ताक में रहता, जिनमें उससे फिर भेंट होने की आशा होती। यदि वह मुझे अपने साथ खेलने के लिये निमन्त्रित करता, तो मेरी खुशी का ठिकाना न रहता।...............

"एक परिवार के सात भाई उसी स्कूल में पढ़ने आया करते थे, हम सब लोग बैठकर आपस में गन्दी-गन्दी कहानियाँ एक दूसरे को सुनाया करते थे।...... ....

"जब मैं दस वर्ष का हुआ, तो मैंने अपने पिता के गाड़ीवान से बहुत कुछ गन्द सीखा। १२ वर्ष की आयु में मुझे एक प्राथमिक पाठशाला में भेजा गया। मुझे रहना भी वहीं होता था। छुट्टियों में मैं घर पर अपने पिता के चपरासी से कामुकता-सम्बन्धी बातचीत किया करता था। उसने मुझे बहुत कुछ बतलाया होगा। इस समय मुझे उत्तेजना होने लगी थी। एक दिन जब सब लोग घर से बाहर गए हुए थे, मैं अकेला घर में बिस्तर पर लेटा हुआ था, वह नौकर अन्दर घुस आया। इस समय मैं अकेला पड़ा हुआ कामुकता के विचारों में लीन था और उत्तेजितावस्था में था। उसने मुझे गिराने को कोशिश की। पहले मैंने प्रतिरोध किया, परन्तु फिर मैं प्रलोभन के सम्मुख गिर गया। कुछ देर बाद वह मुझे छोड़कर चला गया। मेरा

दिमाग़ इतना उत्तेजित हो उठा कि मेरे लिये सोना मुश्किल हो गया। मुझे अनुभव होने लगा कि मेरे सम्मुख एक आनन्ददायक रहस्य खुल गया। बस, फिर क्या था, मैं हस्त-मैथुन करने लगा। मुझे याद नहीं कि मैं कितनी बार अपने को ख़राब करता था—शायद सप्ताह में एक या दो बार। पीछे से मुझे स्वयं अपने से शर्म आने लगती। हस्त-मैथुन के बाद कभी-कभी जननेन्द्रिय में और कभी-कभी अण्डकोशों में दर्द होता, परन्तु लज्जा का भाव तो सदा ही बना रहता। लज्जा का भाव कैसा था?—दिल इस बात से बेचैन होता था कि मैंने वह काम किया है, जिसे सब बुरा समझते हैं। मैं जानता था कि मेरे अधः-पतन को मुझे छोड़ दूसरा कोई नहीं जानता, परन्तु जिससे भी बात करता, ऐसा अनुभव होता, जैसे उसे सब कुछ मालूम है, दिल तक की पहचानता है, परंतु मेरी इज़्ज़त रखने के लिये कुछ नहीं बोलता। मुझे यह डर भी लगने लगा कि इससे मैं अपने स्वास्थ्य को हानि पहुँचा रहा हूँ। एक दिन मेरे अध्यापक ने मुझे बुला भेजा। उसने मुझे कहा कि मेरे बिस्तर पर उसने एक दाग़ देखा है। इस समय मुझे स्वप्न-दोष होने लगा था। मुझे याद नहीं रहा कि यह दाग़ स्वप्न-दोष का था, या हस्त-मैथुन का। जब उसने कहना शुरू किया कि इस दाग़ का होना मेरे पतित होने का प्रमाण है, तो मैंने स्वीकार कर लिया। उसने मुझे कहा कि इससे मेरा स्वास्थ्य बिगड़ जायगा, सम्भवतः दिल कमज़ोर हो जायगा या दिमाग़ ख़राब हो जायगा। उसने

मुझ से शपथ लेने को कहा कि आगे से ऐसा नहीं करूँगा। मैंने शपथ ले ली। मुझे अपनी नीचता पर दुःख हुआ, लज्जा आई, और उसके परिणामों को सुनकर मैं काँप उठा। मेरा अध्यापक कभी-कभी मुझे बुलाकर पूछ लेता था कि मैं अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहा या नहीं। कई महीनों तक मैं बचा रहा। परंतु फिर मैं इस आदत के सामने झुक गया और जब मुझसे पूछा गया, तो मैंने अपनी कमजोरी को स्वीकार कर लिया। अन्त में अध्यापक ने मुझे बुलाकर पूछना भी छोड़ दिया; या तो उसने समझा होगा कि मैं अब ठीक हो गया हूं या उसकी यह धारणा हो गई होगी कि मेरा सुधरना ही नामुमकिन है।"

पाठक! इन अनुभवों के साथ अपने जीवन की नोट-बुक मिलाकर देखो। क्या इन अनुभवों में तुम्हें अपने जीवन की घटनाओं की प्रतिध्वनि सुनाई नहीं पड़ती? क्या तुम भी ग्रीष्म-ऋतु की किसी सायंकाल, या एकांत में लेटे हुए किसी दिन, किसी पापिष्ठ नौकर के चंगुल में तो नहीं पड़ गये थे, अपने स्कूल के ही किसी साथी के शिकार तो नहीं बन गये थे? क्या तुम्हें याद नहीं कि पहले-पहल तुममें प्रतिरोध करने की इच्छा वेग से उठी थी—तुमने सारा बल लगाकर बचने की कोशिश की, परंतु, अफसोस, तुम्हारे शिकारी ने अपना पञ्जा ढीला न होने दिया। आह! आत्मा की निर्बलता का वह क्षण, देव तथा असुर-भाव का वह संग्राम! तुमने उस समय अपने को ढीला छोड़ दिया! पत्ते को आँधी उड़ा ले गई, तिनके को

दरिया बहा ले गया ! इस गिरावट के अगले क्षण तुम्हारी क्या अवस्था हुई थी ?—लज्जा के मारे तुम जमीन में गड़े जा रहे थे, यह लज्जा नहीं, लज्जा का ज्वर था ! क्या उस समय तुम्हें अपने अन्तरात्मा से घृणा नहीं हो गई थी ? क्या उस समय तुमने पश्चात्ताप-पूर्ण हृदयसे परमात्माके सम्मुखहाथ जोड़कर निस्सहाय अवस्था में यह प्रार्थना नहीं की थी कि यदि फिर दुबारा तुम्हारे आत्मा की पवित्रता पर ऐसा ही दाग़ लगने लगे, तो शक्तिमान् भगवान तुम्हें उच्च स्वर से 'नकार' कहने की शक्ति दे ? और, क्या फिर परीक्षा का अवसर उपस्थित नहीं हुआ; और क्या उस समय भी प्रतिरोध, प्रलोभन की प्रबलता तथा अन्त मे तुम्हारी लज्जा-जनक हार नहीं हुई ? क्या उस समय तुम पर लज्जा का पहाड़ नहीं टूट पड़ा ? क्या उस समय तुममें अपने मुख को दर्पण में देखने की शक्ति रह गई थी ? और क्या यह क़िस्सा तुम्हारे जीवन मे बार-बार दोहराया नहीं जाता रहा ? यहां तक कि अन्त मे तुम्हारा प्रतिरोध-शक्ति सर्वथा नष्ट हो गई, और तुम इस घातक आदत के पूर्णतया दास हो गये ? ऐसे क्षण भी आये, जब कि तुमने इस आदत से छुटकारा पाने के लिये हाथ-पाँव मारे, शायद कभी-कभी तुमने समझा भी कि तुम छूट गये, परन्तु तुम्हारी निराशा, आश्चर्य और दुःख का पारावार न रहा, जब तुम्हे एक भयंकर अँधेरी रात को यह मालूम हुआ कि अर्ध-निद्रित अवस्था में तुम इस आदत के ग़ुलाम हो रहे थे ! ये कटु अनुभव हैं, जो प्रायः प्रत्येक नवयुवक को अपने जीवन में प्राप्त हुए होंगे !!

मानसिक कारण

(१) अभी ऊपर काम-वासना को जागृत करनेवाले भौतिक कारणों का उल्लेख किया जा चुका है। इसमें सन्देह नहीं कि बालक की प्रारम्भिकावस्था मे यदि काम को प्रवृत्ति जाग उठे, तो उसमें मन का इतना वड़ा हिस्सा नहीं होता, जितना शरीर का, क्योंकि अभी मानसिक विकास ही वहुत कम हुआ होता है। परन्तु धीरे-धीरे शारीरिक अवस्था का मन पर और मानसिक अवस्था का शरीर पर प्रभाव पड़ने लगता है। वड़ी आयु के व्यक्ति में शारीरिक उत्तेजन से मनोविकार तथा मनोविकार से शारीरिक उत्तेजन होने लगता है। कभी-कभी हस्त-मैथुन केवल इन्द्रियों की घटना होती है, मन का उसमें बिल्कुल दख़ल नहीं होता, व्यक्ति के मन में कोई लिंग-सम्बन्धी विचार नहीं होता, यह केवल एक शारीरिक क्रिया होती है, परन्तु ऐसी अवस्था प्रायः तभी तक रहती है, जव तक मानसिक विकास नहीं हुआ होता। मानसिक विकास हो जाने पर शारीरिक उत्तेजना होते ही मन अपनी बनाई प्रतिमाएँ सामने ला खड़ी करता है। कभी किसी लड़के और कभी किसी लड़की का ख़याल दिल में लाकर वह हस्त-मैथुन का शिकार, अपना ही शिकार खेलने लगता है। लड़कियाँ भी अपने को ख़राब करती पाई गई हैं। केवल शारीरिक हस्त-मैथुन—ऐसा, जिसमें शारीरिक उत्तेजन तो होता है, परन्तु मन द्वारा कुछ नहीं सोचा

जाता—प्रायः बच्चों में ही पाया जाता है, जवानों में नहीं। जवान तो शरीर और मन, दोनों की सहायता से अपना सर्वनाश करने पर तुल जाते हैं। जवानी में हस्त-मैथुन अधिकतर मानसिक रूप धारण कर लेता है। प्रेमी की कल्पना कर मन में भिन्न-भिन्न प्रकार के संकल्प-विकल्प उठाकर जीवन को भार बना लेनेवाले युवकों की कमी नहीं है। लड़के-लड़कियाँ 'कुविकल्पों'—'कुत्सित कल्पनाओं'—से अपने मन को ख़राब कर लेती हैं। गन्दी-गन्दी अश्लील तस्वीरों को देख कर, जिन्हें प्रायः मूर्ख माता-पिता मकानों मे लटकाते हैं, बच्चे के मन में तरह-तरह के गन्दे विचार उठने लगते हैं। भला, माता-पिता के दिल में ही उन्हें देखकर कौन-से अच्छे विचार उठते होंगे ? सभ्यता का दम भरनेवाले इस युग में मनुष्य का मन कितना गन्दा हो चुका है, यह देखना हो, तो किसी स्टेशन के बुक-स्टाल पर बिखरे हुए उपन्यासों के नाम पढ़ जाओ, उनकी तस्वीरें देख जाओ, बस, इस युग का नग्न-चित्र आँखों के सम्मुख खींच देने के लिये इतना ही पर्याप्त है। आज विद्यार्थी-जगत् में सनसनी पैदा करनेवाली काल्पनिक घटनाओं का चित्र खींचनेवाले नाविल पढ़े जाते हैं और उनके पढ़ने में वे उन गन्दी घटनाओं का मज़ा लेने की कोशिश करते हैं। स्कूल के लड़कों की मख़ौलें सुनो, दीवारों पर लिखे उनके गद्य-पद्यमय वाक्य पढ़ो, मालूम हो जायगा कि हमारे बच्चों की कल्पना-शक्ति किस गन्द की दलदल में लतपत पड़ी है। कल्पना को गलानेवाला, उसे सड़ाने-

वाला, व्यभिचार और दुराचार का वायुमण्डल पैदा करनेवाला दृश्य देखने के लिये लड़के नाटकों, सिनेमाओं और नाचघरों में जाते हैं, और फिर उनकी जो अवस्था हो जाती है, उसके लक्षण पूरे एक बीमारी के होते हैं। उनका दिमाग़ कामुकता की गन्दी-से-गंदी कल्पनाओं से इतना भर जाता है कि उनसे 'इन्द्रिय-निग्रह' की आशा रखनेवाला ही मूर्ख है। तभी प्राचीन काल में ब्रह्मचारी को जो उपदेश दिये जाते थे, उनमें यह भी होता था—'नर्तनं गीतवादित्रं वर्जय'—नाचना, गाना, बजाना छोड़ दो—ये ब्रह्मचर्य-जीवन के लिये नहीं हैं।

(२) 'कुत्सित कल्पनाएँ' जहाँ एक ओर लड़कों को ख़राब करती हैं, वहा दूसरी ओर 'चिन्ता' भी उनकी जड़ खोखली करती रहती है। लड़कों के अनैसर्गिक मार्गों के अवलम्बन कर लेने का यह दूसरा कारण है। चिन्ता से मन पर एक बोझ-सा पड़ा जान पड़ता है। चिन्ता में डूबे हुए बालक हस्त-मैथुन की तरफ़ झुक जाते हैं, क्योंकि इससे उनके स्नायु-तन्तुओं का खिंचाव कुछ देर के लिये ढीला हो जाता है। क्षणिक उत्तेजना डूबते हुए मन को कुछ चमका-सा देती है। चिंता के तनाव को मनुष्य अधिक देर तक बर्दाश्त नहीं कर सकता, वह इस बोझ से अपने को हल्का करने का यही सस्ता उपाय ढूँढ़ निकालता है, परन्तु उस भोले को मालूम नहीं होता कि कुछ क्षणों के लिये हल्का होकर वह अपनी मूर्खतावश पहले से भी भारी बोझ सिर पर लाद रहा होता है। वीर्य-नाश से थोड़ी ही देर

में वह अपने को खोखला-अनुभव करने लगता है, और पहली चिंता के साथ यह खोखलेपन की चिंता और बढ़ जाती है। डॉ० एलबर्ट मौल एक बीस वर्ष के युवक के अनुभव का उल्लेख इस प्रकार करते हैं—

"उसका कथन है कि १६ वर्ष की आयु में उसे पहली बार काम-भाव का अनुभव हुआ। इससे पहले भी उसके साथियों ने हस्त-मैथुन आदि की चर्चा उससे की थी परंतु उसने कभी अपने को ख़राब नहीं होने दिया था। एक दिन जब कि वह ऊँची श्रेणी में पढ़ता था, उसे गणित का एक प्रश्न हल करने को दिया गया। वह उस प्रश्न को हल न कर सका—इससे उसे चिंता होने लगी। उसका ऊँची श्रेणी में पढ़ना भी इसी पर आश्रित था, इससे चिंता और अधिक बढ़ी। अभी वह आधा ही सवाल हल कर पाया था कि अध्यापक ने ऊँची आवाज़ मे कहा—'१० मिनट बाकी हैं, इसके बाद उत्तर-पत्र ले लिये जायँगे'। इस पर उसकी चिंता हद दर्जे पर पहुँच गई और तत्क्षण उसने अनुभव किया कि उसका वीर्यपात हो गया था।"

एक और लड़के ने डॉ० एलबर्ट मौल को बतलाया कि एक बार वह श्रेणी में, बिना देखे किसी स्थल का, अनुवाद कर रहा था, और उसे डर था कि घण्टा समाप्त होने से पहले वह उसे समाप्त न कर सकेगा। इसकी उसे इतनी चिंता बढ़ी कि वीर्य स्खलित हो गया। कई लोगों का, जो किसी गहरी चिंता के कारण अंत में आत्म-हत्या कर बैठते हैं, चिंता से ही

वीर्य स्खलित हो जाता है। मन पर चिन्ता का भार जब बहुत बढ़ जाता है, तो वह इसी प्रकार अपने बोझ को हल्का करता है। इसीलिये इम्तिहान के दिनों में चिन्ता से मारे हुए लड़कों को रात में कई-कई वार स्वप्न-दोष हो जाता है। वे वेचारे क्या जानें, इम्तिहान की चिंता उनके जीवन को कहाँ तक सुखा डालती है। यह भी कई लोगों का अनुभव है कि जब स्वप्न-दोष को रोकने की भारी चिंता की जाती है, तब वे और अधिकता से होने लगते हैं। इसका कारण भी चिन्ता के सिवा कुछ नहीं है। स्वप्न-दोष से बचने की 'चिंता' करनेवाले व्यक्ति के लिये उससे बचना मुश्किल हो जाता है।

(३) 'वेकारी' भी मनुष्य के नैतिक पतन में सहायक है। यह समझना कि मन विना किसी संकल्प-विकल्प के ख़ाली रह सकता है, मनोविज्ञान से अनभिज्ञता सूचित करना है। जब मनुष्य समझता है कि उसका मन ख़ाली है, उस समय भी मन में विचार—और प्रायः गंदे विचार—चक्कर काटा करते हैं। जो लोग वेकार होते हैं, समझते हैं कि उनका मन ख़ाली है, उन्हें स्मरण रखना चाहिये कि उस ख़ालीपन का स्थान या तो 'कुत्सित विकल्प' ले लेते हैं या 'चिंता'; और ये दोनों ही मनुष्य को गिरानेवाले शैतान के ओज़ार हैं। एक वार ऋषि दयानन्द से पूछा गया कि उन्हें कामदेव सताता है या नहीं? ऋषि ने उत्तर दिया—हाँ, वह आता है, परन्तु उसे मेरे मकान के बाहर ही खड़े रहना पड़ता है, क्योंकि वह मुझे कभी ख़ाली ही

नहीं पाता। ऋषि दयानन्द कार्य में इतने व्यग्र रहते थे कि उन्हें इधर-उधर की बातों के लिये फ़ुर्सत ही नहीं थी, और यही ऋषि दयानन्द के ब्रह्मचर्य का रहस्य था।

अरे बालक! क्या तू बेकार घूमा करता है!—ओह! तब तो इस बात का डर है कि कहीं तू अनैसर्गिक आदतों का शिकार न बन जाय! इसमें संदेह नहीं कि तुझ पर इस प्रकार का संदेह करना तेरा अपमान करना है, परंतु माफ़ करना, संसार का अनुभव यही कहता है। क्या तू शिकायत किया करता है कि तेरे पास समय नहीं? अरे, लोगों को काहे को बहकाता है, तू समय का सदुपयोग ही नहीं करता, तेरे पास तो समय-ही-समय है! हम भारतीय समय का मूल्य नहीं जानते। बेकारी में ही हमें आनन्द आता है। आलस्य हमारी नस-नस में घुसा हुआ है। समय का मूल्य समझने में हम सबसे पिछड़े हुए हैं। नाविल पढ़ने और थियेटर देखने की सभ्य-समाज की बेकारी ने हमारे पाप को दुगुना कर दिया है। शैतान के साथ हमारी दोस्ती बढ़ती जाती है, क्योंकि बेकारी तो शैतान की ही दासी है!

परिणाम

मनुष्य-समाज के अस्वाभाविक पतन के भौतिक तथा मानसिक 'कारणों' पर हमने विचार कर लिया। अब हमें इस पतन के 'परिणामों' पर विचार करना चाहिये। हस्त-मैथुन अथवा अनैसर्गिक मैथुन के परिणामों को तीन भागों में बाँटा जा

सकता है :—शारीरिक, मानसिक, आत्मिक। अब हम इनका क्रमशः वर्णन करेंगे।

शारीरिक परिणाम

हस्त-मैथुन का परिणाम शरीर पर जो होता है सो तो है ही, परन्तु वह जननेन्द्रिय पर भी कम नहीं होता। इस प्रकार जो वीर्यनाश होता है, उससे वीर्यवाहिनी प्रणालिका पूरी तरह खाली नहीं होती, और बचा हुआ अंश उस प्रणालिका में पड़ा-पड़ा मूत्र-वाहिनी प्रणालिका में जलन उत्पन्न करता है। यह जलन कभी-कभी इतनी बढ़ जाती है कि इस आदत के रोगी को पेशाब में भी चिनक-सी होने लगती है। मूत्राशय का कार्य भी सुस्त हो जाता है और बार-बार पेशाब जाने की इच्छा होती है। इस जलन से दूसरे उत्पात भी उठ खड़े होते हैं। इंद्रिय रह-रहकर उत्तेजित हो उठती है—उस उत्तेजना में भी दुःख होता है; रात को सोते-सोते स्वप्न-दोष हो जाता है। जो इस आदत में बहुत आगे बढ़ जाता है, उसे अनुभव होने लगता है कि पहले तो स्वयं उत्तेजना हो जाती थी, पर अब चाहने पर भी इंद्रिय शिथिल रहती है। थकी हुई नसें काम नहीं करतीं, उन्हें जगाने के लिये तीव्र-उत्तेजक मार्ग का अवलम्बन करना पड़ता है। थके हुए घोड़े से लम्बा रास्ता तय कराना हो, तो कस-कस कर कोड़े मारे जाते हैं। यह प्रकृति का ही नियम है। अब उस अभागे को हस्त-मैथुन से भी उत्तेजना नहीं होती, वह अन्य

अनैसर्गिक उपायों को ढूँढ़ने लगता है। और जैसे अत्यन्त थके घोड़े पर आख़ीरी कोड़ा पड़ता है, और उसकी छटपटाते हुए जान निकल जाती है, इसी प्रकार उस थके हुए अभागे का भी या तो जीवन निश्शेष हो जाता है और या वह सदा के लिये पुरुषत्व को खो बैठता है। जननेन्द्रिय में चेतनता ही नहीं रहती और दिन को या रात को बिना चाहे वीर्य स्खलित होने लगता है। अब वीर्य-स्खलन में भी हर्ष का अनुभव नहीं होता। कइयों का वीर्य मूत्राशय में चला जाता है और उन्हें मूत्र-मेह हो जाता है। कभी-कभी टट्टी फिरते समय क़तरे-क़तरे करके वह वह निकलता है। बुरी आदत का रोगी वास्तविक अर्थों में रोगी हो जाता है। इस आदत का पड़ जाना ही एक भयंकर रोग है। अन्य रोगों का दवा-दारू से इलाज हो जाता है, यह तो मन का रोग है, इस पर औषधियों का क्या असर हो सकता है। अपने इस पतन को देखकर उसके हृदय में अपने प्रति घृणा उत्पन्न हो जाती है और वह सदा अपनी दुरवस्था पर ही सोचा करता है। उसमें वीर्य-धारण करने की शक्ति ही नहीं रहती। अण्डकोशों पर भी बहुत ज्यादा बोझ पड़ चुका होता है, क्योंकि यहीं से तो वीर्य उत्पन्न होता है, अतः उनमें भी दर्द होने लगता है। वीर्य-वाहिनी शिराएँ कमज़ोर हो जाती हैं; अण्डकोश बहुत नीचे लटकने लगते हैं। गुह्य अंगों में ताक़त नहीं रहती, वे ढीले पड़ जाते हैं, उनकी नसें उभर आती हैं। एक शब्द में, हस्त-मैथुन से मनुष्य के उत्पादक अंग अयोग्य हो जाते हैं और वह फिर

हस्त-मैथुन के लायक भी नहीं रहता। वह जिस चीज़ का आनन्द उठाना चाहता है, उसी से उसे वञ्चित कर दिया जाता है, क्योंकि इस दिशा में रक्खा हुआ एक-एक कदम मनुष्य को नपुंसकता की तरफ़ ले जाता है।

इसके अतिरिक्त इस अनैसर्गिकता का जो प्रभाव सम्पूर्ण शरीर पर पड़ता है, वह भी किसी से छिपा नहीं रहता। आख़िर, शरीर के रुधिर ही से तो वीर्य बनता है। जो वीर्य-नाश करता है, वह इस रुधिर ही के कोश को ख़ाली करता है और ज्यों-ज्यों यह आदत जड़ पकड़ती जाती है, त्यों-त्यों रुधिर में कमी आती जाती है। इसीलिये हस्त-मैथुन के शिकार को उन सब बीमारियों का शिकार भी बनना पड़ता है, जो रुधिर की कमी से होती हैं। सिर के बाल उड़ जाते हैं, सफ़ेद हो जाते हैं, आँखों में ज्योति नहीं रहती, वे अन्दर धँस जाती हैं और उनके इर्द-गिर्द काला-काला घेरा बन जाता है। दाँत ख़राब होने लगते हैं, चेहरे पर रौनक़ नहीं रहती। छाती सिकुड़ जाती है, कन्धे झुक जाते हैं, हाज़मा बिगड़ जाता है। जब कुछ पचता नहीं, तब या तो क़ब्ज़ हो जाती है या दस्त लग जाते हैं। शरीर सूखा-सा रहता है। क्षीण रुधिर पुष्टि चाहता है; यह पुष्टि दवा-दारू से नहीं मिल सकती, वाजीकरण औषधियों से नहीं मिल सकती, यह मिलती है खुले द्वार को बन्द कर देने से, वीर्य की रक्षा करने से। हृदय में भी पर्याप्त रुधिर नहीं पहुँच पाता, वह धड़कने लगता है और ख़ून के न मिल सकने से फेफड़े भी क्षीण

होने लगते हैं। अँतड़ियों में भी खून की कमी हो जाती है, उनमे तरावट नहीं रहती और इसलिये दस्त खुल कर नहीं आता। मूत्राशय और गुर्दे की बीमारियाँ भी घर करने लगती हैं। शरीर के दूर-दूर के हिस्सों तक—हाथों और पैरों तक—पूरा-पूरा रुधिर नहीं पहुँच सकता, इसलिये वे ठण्डे रहने लगते हैं। शरीर के जोड़—सिर, गर्दन, कन्धे, कोहनी, घुटने—दुखने लगते हैं, और यह सब-कुछ खून की कमी से होता है। दोस्त देखकर अचम्भा करते हैं और पूछते हैं, तुम्हें क्या हो गया? प्रकृति क्रोध में आकर हस्त-मैथुन के अपराधी को ऐसा दण्ड देती है, जिससे वह अपने उत्पादक अंगों का दुरुपयोग तो क्या, किसी प्रकार का उपयोग भी नहीं कर सकता। उसका यह अपराध क्या कम है कि परमात्मा की जिस देन से वह अपने आत्मा की उन्नति कर सकता था, उसी को उसने बेतहाशा लुटाया! इस दुरुपयोग को देखकर प्रकृति अपनी देन वापस ले लेती है, और हमारी परिभाषा में उस मनुष्य को नपुंसक—अपाहिज—कोढ़ी—कहा जाता है!

एक प्रख्यात डॉक्टर का कथन है कि हस्त-मैथुन से, अथवा अनैसर्गिक सम्बन्ध से, होनेवाली बीमारियों को सूची पूरी-पूरी तैयार ही नहीं की जा सकती। कामुकता के भाव की प्रचण्डता से मनुष्य को स्नायु-शक्ति का ह्रास होता है। यह स्नायु-शक्ति वीर्य में रहती है, और वीर्य का एक औंस शरीर के किसी हिस्से के भी ४० औंस रुधिर के बराबर है। स्नायु-शक्ति के ह्रास से

मनुष्य का शरीर हरएक प्रकार की बीमारी को निमन्त्रण देने के लिये हर समय तैयार रहता है। इस प्रकार जो बीमारियाँ शरीर में प्रवेश करती हैं, उनका भी कारण मनुष्य का अस्वाभाविक जीवन ही है। कामुकता से वीर्य तथा स्नायु-शक्ति, दोनों का ह्रास होता है, अतः 'आत्म-व्यभिचार' से वीर्य तथा स्नायु-सम्बन्धी अनेक उपद्रवों का उठ खड़े होना स्वाभाविक है।

इस प्रकरण में एक बात पर ध्यान देना आवश्यक है। जिन लक्षणों का वर्णन किया गया, इसमें सन्देह नहीं कि वे वीर्य-ह्रास के कारण उत्पन्न होते हैं, परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि जहाँ ये लक्षण दिखाई दें वहाँ अवश्य वीर्यनाश ही कारण है। कई अधकचरे विचारों के लोग किसी भी भलेमानस पर सन्देह करने लगते हैं। किसी को क़ब्ज़ हुई, तो फ़ौरन् संदेह करने लगे, किसी को ज़ुकाम हुआ, तो फौरन् उसके आचार पर उँगली उठाने लगे। ऐसे अन्ध-भक्तों ने ब्रह्मचर्य के कार्य को जो धक्का पहुँचाया है, वह शायद उसके शत्रु भी न पहुँचावेंगे; ऐसे ही लोगों के कारण ब्रह्मचर्य बदनाम हो जाता है। इसी से तो ब्रह्मचर्य हौआ बन गया है। यह समझ रखना चाहिये कि जहाँ ब्रह्मचर्य से शरीर की रक्षा होती है, वहाँ और कई कारणों से भी शरीर की रक्षा होती है; और जहाँ ब्रह्मचर्य-नाश से शरीर ख़राब होता है, वहाँ और भी कई कारणों से शरीर ख़राब हो जाता है। उदाहरणार्थ, एक हृष्ट-पुष्ट माता-पिता के व्यभिचारी पुत्र का शरीर दुबले-पतले माता-पिता के सदाचारी पुत्र से अच्छा

हो सकता है, परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि हृष्ट-पुष्ट व्यभिचारी को देखकर हम उसे ब्रह्मचारी समझने लगें और दुबले-पतले सदाचारी को देखकर उसे व्यभिचारी कहने लगें। ब्रह्मचर्य के यथार्थ भाव को न समझनेवाले ऐसा ही करते हैं। वे यह नहीं सोचते कि ब्रह्मचर्य के अतिरिक्त दूसरे भी कारण संसार में मौजूद हैं। ऐसे लोग या तो 'ब्रह्मचर्य' के अन्धे भक्त बने रहते हैं और या दुनिया में अपने सिद्धांतों को ठीक घटते हुए न देखकर ब्रह्मचर्य की ही खिल्ली उड़ाने लगते हैं। इन दोनों सीमाओं से बचने के लिये ब्रह्मचर्य के यथार्थ भाव को अवश्य समझ लेना चाहिये।

मानसिक परिणाम

मन का भौतिक आधार मस्तिष्क है। मन द्वारा सोचने की प्रत्येक क्रिया मस्तिष्क में ही होती है। अतः किसी भी चीज के मन पर हुए प्रभाव का अभिप्राय मस्तिष्क पर पड़े प्रभाव से ही समझना चाहिये। जिस बुरी आदत की चर्चा हम कर रहे हैं, उसका शरीर के अतिरिक्त मन, अथवा मस्तिष्क पर भी बहुत गहरा तथा विस्तृत प्रभाव पड़ता है। मस्तिष्क मनुष्य के जीवन का केन्द्र है—उसके बिना वह न हिल-जुल सकता है, न सोच-समझ सकता है। वह बड़ा कोमल भी है। हस्त-मैथुन का मस्तिष्क पर सीधा प्रभाव पड़ता है। अनेक जन्तु ऐसे देखे गये हैं, जिन पर मैथुन का इतना ह्रासकारी असर होता है कि

मैथुन की अवस्था में ही उनके प्राण-पखेरू उड़ जाते हैं। कई पशु, मैथुन में इतने स्नायु-शक्ति-हीन हो जाते हैं कि थकावट के मारे वे एक तरफ को गिर पड़ते हैं। इससे दिमाग को इतना जबर्दस्त धक्का पहुँचता है कि प्रणय की प्रथम-रात्रि में ही कइयों की मृत्यु हो जाती है। इस विषय में तो सम्मति-भेद हो ही नहीं सकता कि किसी प्रकार का भी मैथुन अत्यन्त थकानेवाला, स्नायु-शक्ति को जर्जरित कर देनेवाला कार्य है। इसमें शरीर की नस-नस, पट्ठा-पट्ठा, हर-एक हिस्सा, मानसिक भाव—सब पर इतना दबाव पड़ता है कि मालूम पड़ता है, शरीर को किसी ने जड़ से हिला दिया। स्त्री-पुरुष के नियमित प्रसंग में, जब दोनों पूर्ण आयु के हो चुके हों, वीर्य-नाश से जो हानि होती है, उसकी बहुत-कुछ पूर्ति दोनों में एक-दूसरे के लिये उठनेवाले प्रेममय मनोभावों से हो जाती है; उनकी अवस्था भी ऐसी होती है जिसमें 'बहिःस्राव' बनने लग चुका होता है, परन्तु हस्त-मैथुन से तो हानि के सिवा और किसी बात की सम्भावना ही नहीं। इसके विपरीत, आत्म-ग्लानि का भाव आत्मा को धिक्कार ही बतलाता है। म० हैवेलाक इलिस महोदय 'साइकोलॉजी ऑफ् सेक्स' के प्रथम खण्ड के २५३ पृष्ठ पर लिखते हैं—"पति-पत्नी में एक दूसरे के सम्बन्ध से निर्भयता, प्रेम, आत्माभिमान, आत्म-गौरव तथा आत्म-संतोष के भाव का उदय होता है। यह भाव, जो आत्मा को उन्नत बनानेवाला है, आत्म-व्यभिचार के घृणित कृत्य में नहीं उठ सकता। आत्म-व्यभिचार

के विरुद्ध सबसे बड़ी मनोवैज्ञानिक युक्ति यह है कि इससे प्रेम की उत्कट भावना के स्थान पर आत्म-ग्लानि उत्पन्न होती है। आत्म-व्यभिचारी प्रेम को ढूँढने और उसे पाने की जगह उससे भागता है। प्रेम का भाव जहाँ आत्मा को उठा सकता था, वहाँ यह भाव आत्मा को गिरा देता है।" इलिस महोदय ने गौडफ्रे की 'सायन्स ऑफ सेक्स' पुस्तक का निम्न उद्धरण भी इस स्थल पर दिया है। गौडफ्रे अपनी पुस्तक के १७८ पृष्ठ पर लिखते हैं:—
"यद्यपि आत्म-व्यभिचार जननेन्द्रिय की ही एक क्रिया है, तथापि इसे ऊँचे अर्थों से, अथवा साधारण अर्थों में भी, 'सैक्सुअल एक्ट' (काम-क्रिया) नहीं कहा जा सकता। 'सैक्स' (काम) शब्द में द्वित्व का अभिप्राय शामिल है, जो हस्त-मैथुन मे नहीं होता। स्त्री-पुरुष के प्रसंग में जो शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक सहयोग पाया जाता है, और जो सहयोग ही वास्तव मे उनके जीवन में स्थिरता तथा सुन्दरता का सञ्चार करता है, वह हस्त-मैथुन मे कहाँ? अतः एक दृष्टि से हस्त-मैथुन को 'सैक्सुअल लाइफ' (काम-जीवन) का अभाव कहा जा सकता है—इसे 'सैक्सुअल एक्ट' (काम-क्रिया) कहना ही ग़लती है।"

मनुष्य के मन में काम-भाव उठ खड़ा होता है, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु हस्त-मैथुन उस भाव को शांत करने का [illegible] उपाय नहीं है। कामना किसी दूसरे के लिये होती है, हस्त-मैथुन में दूसरेपन का ही अभाव है, अतः इसका कामना से कोई सम्बन्ध ही नहीं है, और न इससे कामना

का ही सवाल हल होता है। हाँ, इससे कामना नष्ट जरूर होती है, और कामना के नाश का ही दूसरा नाम नपुंसकता या नामर्दी है। जान-बूझकर किसी प्रकार के भी वीर्य-नाश से दिमाग खोखला हो जाता है, जीवन की धारा सूख जाती है। 'सैक्षु-अल सायन्स' पुस्तक के निम्न उद्धरणों से स्पष्ट हो जायगा कि मस्तिष्क तथा वीर्य का पारस्परिक सम्बन्ध कितना घनिष्ठ है:—

"मैथुन करते-करते कई बूढ़ों की मृत्यु होती देखी गई है और मृत्यु का कारण छोटे मस्तिष्क का निश्चेष्ट होकर मूर्च्छा में आ जाना होता है। रानहर्न्स का कथन है कि ४० वर्ष के एक व्यक्ति को विवाह की पहली रात्रि में ही मूर्च्छा आ गई। इलाज करने पर वह अच्छा तो हो गया, परन्तु अपनी इच्छाओं पर काबू न रख सकने के कारण जब उसने अपने को खुला छोड़ा, तो फिर मूर्च्छा का दौरा हुआ, और उसकी मृत्यु हो गई। सेर्स एक ३२ वष के आदमी का जिक्र करता है, जिसे मैथुन का अवस्था में ही मूर्च्छा आ गई। वह उससे पहले दबादब शराब के प्याले-पर-प्याले चढ़ा रहा था। मृत्यु के समय तक उसे उत्तेजना बनी रही। जब उसका शवच्छेदन किया गया, तब उसके छोटे मस्तिष्क के मध्य-खण्ड में सूजन के चिह्न दिखाई दिये, मस्तिष्क-तत्त्व कई जगहों से फटा हुआ मिला और दिमाग के अन्दर की कई थैलियों में रुधिर भरा हुआ पाया गया। एन्ड्रल ने एक ५० वर्ष के आदमी का जिक्र किया है, जिसे किसी वेश्या के घर से बाहर निकलते ही मूर्च्छा आ गई। उसे अस्पताल लाया गया। वहाँ जाकर वह

मर गया। मस्तिष्क चीरकर देखने से ज्ञात हुआ कि उसका छोटा मस्तिष्क सारा खराब हो गया था और उसका कुछ-कुछ प्रभाव बड़े दिमाग पर भी होने लगा था। सेरांज ने भी एक विषयी आदमी का उल्लेख किया है। वह एक दिन किसी वेश्या के घर में गया और उसके बाद दो दिन में मर गया। उसके दिमाग़ को चीरने से छोटे मस्तिष्क में रक्त-संचय पाया गया। डॉ० गियोट ने एक ५२ वर्ष के विषयी वृद्ध का वर्णन करते हुए लिखा है कि उसे मस्तिष्क मे रक्त-सचय के आक्रमण कई बार हुए, उसका शरीर हृष्ट-पुष्ट था, इसलिये कुछ दिनों तक तो वह सब बर्दाश्त करता रहा, परन्तु अन्त में पागल हो गया। उसकी बीमारी जल्दी-जल्दी बढ़ने लगी, नीचे के हिस्से में अर्धांग हो गया और १२ घण्टों मे ही वह वेचारा चल बसा। डेलेन्डीज़ एक लड़की का उल्लेख करता है। वह बचपन मे ही कुसंगति में पड़ गई थी, और अन्त मे वेश्या बन गई। उसके गुह्यांगों ने इतनी जलन होती थी कि सूजन उत्पन्न हो गई। उसका कुछ इलाज भी न हो सका। अन्त मे मृत्यु ने उसका इस दुःख से निस्तार किया। दिमाग चीरने से देखा गया कि उसका छोटा मस्तिष्क रुधिर-शून्य होने के कारण स्पर्श मे कठोर हो गया था। इसी लेखक ने एक २० वर्ष के युवक का उल्लेख किया है। वह छुटपन से ही हस्त-मैथुन का शिकार हो गया था। सब उपाय कर लिये गए थे, परन्तु उसकी यह आदत छूटती ही न थी। उसे कभी-कभी मृगी का दौरा होता था। वह एक हस्पताल मे भर्ती हो गया।

इस समय उसका वीर्य-नाश होना बन्द न हुआ। अन्त में तीन महीने के बाद वह बिल्कुल सूखकर मर गया। चीरने पर उसके छोटे दिमाग़ में एक गाँठ पाई गई। एक दस वर्ष की लड़की जिसे हस्त-मैथुन की लत पड़ गई थी, एकान्त-प्रिय तथा दुःखित-सी रहा करती थी। चार महीने तक उसके सिर-दर्द होता रहा, जो कि अन्त में इतना बढ़ा कि वह तीन हफ्ते तक लगातार दिन-रात रोती रही, और अन्त में मर गई। मरने से पहले उसे हस्प-ताल पहुँचाया गया। डॉक्टर लोग पूछ-ताछ करने पर केवल इतना जान सके कि वह १२ दिन तक बिस्तर मे ही पड़ी रही थी, बार-बार उसे पित्त की कय आती थी, हर समय ऊँघती रहती थी, चारों तरफ के लोगों का उसे कुछ ख़याल तक न रहता था। उसका सिर हर समय नीचे लटका रहता था, और हाथ सिर पर पड़े रहते थे। मरने से चार दिन पहले वह प्रगाढ़ निद्रा में सो रही थी। प्रकाश का उसे कुछ ज्ञान न था, कभी-कभी आँखें थोड़ी-सी खोल देती थी। उसका छोटा मस्तिष्क चीरकर देखा गया, तो ऊपरला हिस्सा तो सारे-का-सारा सड़ाँद से भरा हुआ था और बाक़ी हिस्सा भी कुछ-कुछ गल-सा गया था। कोम्बेट ने एक ११ वर्ष की लड़की का उल्लेख किया है। उसे भी यही लत थी और इसी के कारण उसका छोटा मस्तिष्क बिल्कुल सड़-गल गया था। जो हिस्सा पूरा नहीं गला था, वहाँ लिसलिसी झिल्ली अभी शेष थी।"

ऊपर जिन शल्य-तन्त्र-सम्बन्धी दृष्टान्तों का उल्लेख किया

गया है, उनसे स्पष्ट है कि ऐसी कठोर काम-क्रिया का, जैसी कि हस्त-मैथुन में पाई जाती है, मस्तिष्क तथा स्नायु-मण्डल पर सीधा असर पड़ता है। जो हस्त-मैथुन से वीर्य-नाश करता है, उसे समझ रखना चाहिये कि वह अपने मस्तिष्क के तत्त्व को वहा रहा है, और इसीलिये जिसे यह लत पड़ जाती है, वह बुद्धू-सा प्रतीत होने लगता है, उसे मृगी तथा इसी प्रकार के अन्य मानसिक रोग घेर लेते हैं। उसके जीवन का रस सूख जाता है, उसकी हँसी में भी अस्वाभाविकता आ जाती है। हर समय सिर नीचा किये काल्पनिक अपार दुःख-सागर में गोते खाते रहने की उसे बीमारी-सी हो जाती है। इससे बचने के लिये वह नाच-रंग में जाने लगता है। शराब की आदत भी जल्दी ही पड़ जाती है, क्योंकि इसके कुछ देर के नशे में तो वह अपने दुःखों को डुबो सकता है! इस प्रकार उसके सर्वनाश के लिये राजपथ खुल जाता है। दुःखों की गठरी को वह शराब में डुबोता है, और शराब से गठरी का भार और बढ़ जाता है—बस, एक सनातन चक्र चल पड़ता है। आत्मा हर समय मरी रहती है, निराशा छाई रहती है,—इस लत के शिकार को आशा की कोई किरण ही नहीं दिखाई देती। चिन्ता उसके मस्तिष्क पर अपनी छाप लगा देती है। आत्मिक शान्ति, शायद सदा के लिये, उसे अलविदा कह देती है। लड़के, जो अपनी कक्षा में आगे रहा करते थे, पिछड़ने लगते हैं। साथी लोग आश्चर्य करते है, अध्यापक परेशान हो जाते हैं, माता-पिता कुछ समझ नहीं

सकते, पर जिसने शारीर-शास्त्र का अध्ययन किया है, उसे कोई अचम्भा नहीं होता, क्योंकि वह सब बातों से वाक़िफ होता है। विद्यार्थी के लिये यह आवश्यक है कि वह अपने ध्यान को केन्द्रित कर सके, यही तो स्मृति-शक्ति है। बुरी राह पर पड़ा हुआ लड़का ध्यान को भी केन्द्रित नहीं कर सकता। यही तो कारण है, इतने लड़के स्कूलों में दाखिल होते हैं, पर दसवीं श्रेणी तक पहुँचते-पहुँचते बहुत थोड़े रह जाते हैं। गन्दी आदतें उन्हें आगे क़दम नहीं रखने देतीं, पीछे खींच लेती हैं। लड़का किताब लेकर पढ़ने बैठता है, पर सकल्प-विकल्पों के ताने-बाने से बनी गन्दी-गन्दी तस्वीरें उसके मानसिक नेत्रों के सम्मुख उठने लगती हैं। और फिर,—आह! फिर कहाँ पुस्तक, कहाँ पाठ, कहाँ क्लास और कहाँ अध्यापक—इस १४-१५ वर्ष की उम्र में प्राय. सब लड़कों में स्कूल छोड़कर भाग खड़े होने की प्रबल अभिलाषा उठ खड़ी होती है बाज़ारों में जाकर देखो, ली में कितने सिर दरिया की लहरों की तरह ऊपर-नीचे उठते हुए नज़र आते हैं! इनमें से तीन-चौथाई लड़के स्कूलों में दाखिल हुए थे, परन्तु जवानी की उसी अन्धी उमंग में ये सब स्कूल छोड़ बैठे थे!

जैसा द्वितीय अध्याय में लिखा जा चुका है, छोटा मस्तिष्क ही कामुकता तथा शारीरिक गतियों को नियन्त्रित करने का केन्द्र है। क्योंकि कामी आदमी विषय में अधिक प्रवृत्त होता है, अतः उसका छोटा मस्तिष्क शीघ्र ही थक जाता

है। परिणाम यह होता है कि उसके जोड़ों में दर्द होने लगता है और वह चलने में लड़खड़ाता है। उसकी सभी ज्ञानेन्द्रियों की शक्तियाँ क्षीण हो जाती हैं। बुड्ढ़ तथा मृगी का मारा वह समाज पर और पृथिवी पर भार हो जाता है। ऐसे क्षण भी आते हैं, जब वह अपने लिये ही अपने को बोझ समझने लगता है और किसी निराशा के आवेश में आकर अपने ही हाथों अपना काम तमाम कर बैठता है।

'इन्द्रिय-निग्रह' के अभाव का परिणाम बुरा होता है। रीढ़ मे दर्द रहता है, गठिया सताने लगता है। अर्धांग-रोग स्नायु-सम्बन्धी ही तो बीमारी है और यह किसी भी उपाय द्वारा वीर्य के क्षय से हो जाती है। वीर्य-नाश से मस्तिष्क खोखला होने लगता है, रात को नींद नहीं आती और इसी प्रकार की स्नायवीय बीमारियाँ शरीर मे सदा के लिये घर कर लेती हैं।

आत्मिक परिणाम

गन्दे विचारों को अपने अन्दर जगह देने से मनुष्य के आत्मा को मानो घुन लग जाता है। अन्तरात्मा, जो उन्मार्ग होते हुए व्यक्ति को भटकने से बचाने के लिये दैवीय वाणी का काम कर सकता था, मर जाता है। डॉ० स्टॉल ने अपनी पुस्तक 'वट ए यंग ब्वॉय औट टु नो' में इसी भाव को बड़े सुन्दर शब्दों में यों रक्खा है—"हममे से बहुतों के अन्तरात्मा की आवाज़ बहरे कानों पर पड़ती है, वे उसकी चेतावनी से मुँह फेर लेते

हैं। अन्त में समय आता है, जब कि आत्मा की आवाज़ उन्हें सुनाई ही नहीं पड़ती। यह घटना वैसी ही है, जैसे कोई ५ बजे प्रातःकाल उठने के लिये घड़ी की सुई ठीक करके रक्खे। पहले दिन प्रातःकाल वह चौंका देगी, और यदि वह ठीक उसी समय उठकर कपड़े पहनना शुरू कर दे, तो प्रतिदिन प्रातःकाल जब घण्टी बजेगी, वह उठ खड़ा होगा। परन्तु यदि पहले दिन ही घड़ी की आवाज़ सुनकर उठने के बदले वह चारपाई पर पड़े-पड़े सोचने लगे—'एक मिनट और सो लूँ' और यह सोचकर फिर लेट जाय, और जब तक उसे कोई न उठाये, तब तक सोता रहे, तो अगले दिन घण्टी बजने पर वह शायद जाग तो जायगा, परंतु अब तो—'एक मिनट और सो लूँ'—सोचने की भी तकलीफ़ नहीं करेगा और सोता ही रहेगा। यदि सोने का यही सिलसिला जारी रहा, तो दो-तीन दिन के बाद घड़ी बजती ही रहा करेगी और वह उसकी आवाज़ तक न सुन सकेगा, मज़े में खुर्राटे भरता रहेगा। मनुष्य के अन्तरात्मा का भी यही हाल है। यदि हम शुरू से ही उसकी सलाह को मानते रहें, तब तो सब-कुछ ठीक रहता है, परन्तु यदि उसकी चेतावनी पर हम कान न दें, तो धीरे-धीरे उसकी आवाज़ ही सुनाई पड़नी बन्द हो जाती है। इस-लिये नहीं कि अन्तरात्मा की चेतावनी बन्द हो जाती है—घण्टी बजनी भी तो बन्द नहीं होती—लेकिन क्योंकि हम उसकी तरफ़ से असावधान हो गये, इसलिये हम खुले तौर पर इस प्रकार का पापमय जीवन व्यतीत करने लगते हैं, मानो हमारा

अन्तरात्मा है ही नहीं।"

काम-वासना की अनैसर्गिक तृप्ति के ठीक बाद हृदय में उमड़ता हुआ लज्जा और आत्म-ग्लानि का समुद्र अन्तरात्मा की ही विरोध-सूचक आवाज़ है। प्रारम्भ में यह बड़ी प्रबल होती है, मानो बुराई से युद्ध कर रही होती है। परन्तु फिर,—'केवल एक बार'—'केवल इस बार'—के पाशविक भाव का मुक़ाबिला कौन करे? मनुष्य का अधःपतन प्रारम्भ हो जाता है, यहाँ तक कि आत्मिक बल सर्वथा लुप्त हो जाता है। फिर वह पर्वा नहीं करता। उस समय वह जो-जो कुछ कर बैठता है, उसके सामने हस्त-मैथुन भी साधारण-सी बात जान पड़ती है। आत्मा सर्वथा सो जाता है। उसका जीवन वासनामय हो जाता है, ऊँचा उड़ने की खरी-खरी भावनाएँ सब कुचली जाती हैं। जिन्दगी एक परेशानी की चीज़ बन जाती है। ऐसे ही क्षणों में वे घृणित पाप हो जाते हैं, जिनकी बदबू से अदालतें भरी रहती हैं। जीवन के बोझ को अपने कन्धों पर उठाये, कुचेष्टाओं का दास, लज्जा और धर्म को ताक़ में रख, उस दिन की घड़ियाँ गिनने लगता है, जिस दिन पृथिवी उसके बोझ से हल्की हो जायगी!

कुचेष्टाओं में मनुष्य कैसे फँस जाता है? इस बात पर विचार किया जाय, तो पता लगेगा कि ऐसे व्यक्ति में 'इन्द्रिय-निग्रह' तथा 'आत्म-विश्वास' का क़तरा तक नहीं रह जाता। आदत की बेड़ियों से बंधकर वह उन्हीं का ग़ुलाम हो जाता है। जिस मनुष्य की इच्छा-शक्ति प्रबल होती है, उसके मुख से—'केवल

एक वार'—'वस, एक मिनट के लिये'—'आखिरी वार'—ये शब्द निकलने ही नहीं। जिसके हृदय में ये शब्द उठते हैं, उसे समझ रखना चाहिये कि 'केवल एक वार' कई वार दोहराया जायगा; 'बस, एक मिनट' कई घण्टों के लिये होगा, और 'आखिरी वार' पतन की पहली वार होगी! आदत एक पिशाचिनी है, जो मनुष्य की संतान को मार्ग-भ्रष्ट करने के लिये इन प्रलोभनों की रचना किया करती है। कुचेष्टाओं में पड़ा हुआ व्यक्ति अपने आत्मा की आवाज की भी पर्वा न करता हुआ अपने पैरों अपने आप कुल्हाड़ी मार बैठता है, इसीलिये उसकी इच्छा-शक्ति सूत के कच्चे धागे की तरह जरा-सा बोझ पड़ने पर फौरन् टूट जाती है, उसमें कुछ बल नहीं रहता। आत्मिक पतन की यह चरम सीमा है।

चिकित्सा

ब्रह्मचर्य-पूर्वक शुद्ध तथा पवित्र जीवन व्यतीत करने के विषय में विस्तार-पूर्वक अगले एक अध्याय में लिखा जायगा। यहाँ पर आत्म-व्यभिचार से होनेवाले भौतिक तथा मानसिक दुष्परिणामों से बचने के उपायों पर ही संक्षिप्त विवेचन करना है। सबसे पहली बात यह है कि कुचेष्टा के कारण को समझ लेने में उसकी चिकित्सा स्वयं आ जाती है। कारण को हटा दो, कार्य स्वयं हट जायगा—कुचेष्टा के कारणों को भी हटा दो, उससे होनेवाले दुष्परिणाम स्वयं हट जायँगे। इस सम्बंध में सबके लिये किन्हीं निश्चित बँधे हुए नियमों का उल्लेख नहीं

किया जा सकता। प्रत्येक व्यक्ति की अपनी-अपनी कठिनता होती है, सबके अपने-अपने सवाल होते हैं, और उनके अलग-अलग ही हल होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति की अवस्था देखकर, उसकी शिकायत के कारणों पर विचार करके उन कारणों को दूर करना चाहिये। यहाँ पर सर्व-साधारण के उपयोगी केवल सामान्य निर्देश ही दिये जा सकते हैं।

कुचेष्टा के भौतिक कारणों से उत्पन्न होनेवाले उपद्रव विशेष दु:ख पहुँचाते हैं। और जब वे उपद्रव बढ़ जाते हैं, तब यह ख़याल आता है कि यदि माता-पिता, गुरु, सम्बन्धी सावधान रहते, तो इन दु:खों से बचा जा सकता था। यदि बालकों को प्रारम्भ मे ही इन विषयों से जान-बूझकर अनभिज्ञ रखने का प्रयत्न माता-पिता की ओर से न होता तो शायद उनकी जीवन-नौका बच जाती। जैसा इन पृष्ठों में जगह-जगह लिखा जा चुका है, माता-पिता ही, दुर्भाग्यवश, अपनी सन्तान के सर्वनाश के कारण बनते हैं। उन्हें मालूम होना चाहिये था कि अविवाहित जीवन की कठिनाइयाँ विवाहित जीवन से किसी प्रकार कम नहीं हैं। उन्हें अपने विद्यार्थी-जीवन के वैयक्तिक अनुभवों से यह ज्ञात होना चाहिये था कि उनका बालक भी इन बातों से किसी प्रकार अनभिज्ञ न रह सकेगा। उसे मालूम तो सभी कुछ हो जायगा। हाँ, इन रहस्यों को माता-पिता तथा गुरुओं से न जानकर वह अपने साथियों की अश्लील तथा गंदी मखौलों से और अपने माता-पिता के नौकरों-चाकरों की गप्पों से सीख जायगा।

फिर लड़का जिस रास्ते पर चल पड़ेगा, उसकी ज़िम्मेवारी, अरे माता-पिताओ! तुम्हे छोड़कर किस पर होगी? याद रक्खो, परमात्मा के दरबार में तुम पर अपनी सन्तान की हत्या करने का अभियोग चलेगा! इसमें सन्देह नहीं कि माता-पिता के पाप सन्तान को भोगने पड़ते हैं, परंतु इसमें भी तो सन्देह नहीं कि अनेक मूर्ख पिता इस दर्द को दिल में लेकर ही मरते हैं कि उन्हीं की असावधानी से उनकी सन्तान का सत्यानाश हो गया, और उनको आँखें तब खुलीं, जब मामला उनके क़ाबू से निकल गया और वे हाथ मलते रह गये! इस समय तक हिंदी तथा अंग्रेजी में अनेक पुस्तकें निकल चुकी हैं, जिनके आधार पर माता-पिता अपनी संतान के सम्मुख इन बातों को अच्छी तरह रख सकते हैं। माता-पिता तथा अध्यापकों को इस तरफ विशेष ध्यान देना चाहिये। हमारे समाज में इस विषय पर बाहर-बाहर की चुप्पी का जो दूषित वातावरण बना हुआ है, उससे अन्दर-अन्दर कुचेष्टाओं की भयंकर आग सुलग रही है, जिसे बुझाना कठिन जान पड़ रहा है।

ये आदतें ऐसी हैं, जो यदि एक बार जड़ पकड़ गईं, तो इनका उखाड़ना कठिन हो जाता है। फिर भी किसी बुरे काम से जब भी पीछे क़दम हटा लिया जाय, तभी अच्छा है। जिसे बुरी आदत पड़ ही गई है, उसे निम्न-लिखित नियमों से अपने जीवन को नियन्त्रित कर लेना चाहिये:—

(१) भोजन शुद्ध तथा सात्त्विक हो। मैदे की जगह मोटे आटे का इस्तेमाल हो। मिर्च, मसाले, मिठाई, खटाई आदि

को छोड़ दिया जाय। फलों तथा दूध का प्रयोग ज्यादह हो।

(२) चाय, काफी, पान, तम्बाकू, सिगरेट, भाँग, शराब आदि नशीले पदार्थों का सेवन क़तई न किया जाय। उत्तेजक पदार्थों के सेवन की आवश्यकता युवक को न होनी चाहिये और यह स्मरण रखना चाहिये कि सबसे अच्छा सात्विक उत्तेजक 'ब्रह्मचर्य' ही है। इससे शरीर में जो शक्ति आती है, वह चाय पी-पीकर नहीं लाई जा सकती। इसकी शक्ति टिकनेवाली है, और चाय से आई शक्ति तभी तक है जब तक पेट में चाय की गर्मी रहती है।

(३) जननेन्द्रिय को परब्रह्म की उत्पादक शक्ति का चिह्न-मात्र समझना चाहिये। उसकी तरफ़ ध्यान जाते ही दैवीय भाव का उदय होना चाहिये। इंद्रिय-स्पर्श कभी न करना चाहिये। ऐसे काम की तरफ भूलकर भी ध्यान नहीं ले जाना चाहिये, जिसे खुले में करते हुए हृदय में पाप की, लज्जा तथा भय की आशंका होती हो। ऐसा कार्य सदा पापमय होता है। यही तो पाप की पहचान है!

(४) जननेन्द्रिय के अगले हिस्से को, धीरे से, उसकी उपरली त्वचा पीछे हटाकर, शुद्ध भाव से, प्रतिदिन धोना एक धार्मिक कृत्य के तौर से करना चाहिये। इस समय हृदय में परमात्मा की मातृ-शक्ति का ध्यान रहना चाहिये। यह सफाई ठीक ऐसी ही करनी चाहिये, जैसे कान, नाक आदि की सफाई। यदि उपरली त्वचा बहुत तंग हो या बहुत लम्बी हो, तो डॉक्टर से

सलाह करके उसे कटवा डालना चाहिये। यदि ठीक सफ़ाई न कर सकने के कारण इस त्वचा के नीचे, शिश्न-मुण्ड पर, ज़ख्म-से हो जायँ, सूजन या खाज होने लगे, तो डरना नहीं चाहिये। जिसने अपने को दूषित नहीं किया, उसे बीमारी ऐसे ही नहीं आ चिपटती। छोटे बालक, जिन्होंने समाचार-पत्रों के इश्तिहारों में सुजाक आदि भयकर रोगों का नाम पढ़ लिया होता है, ज़रा-सी खुजली से डर जाते हैं। इसीलिये इस अंग की सफ़ाई ज़रूरी है। यदि कभी साफ़ न रहने से जलन-सी होने लगे, तो निम्न-औषध का प्रयोग करना चाहिये, शिकायत शीघ्र दूर हो जायगी—

i. अंग्रेज़ी दवा—डस्टिंग पाउडर का उपयोग करना; अथवा धोकर बोरिक आयन्टमेन्ट लगाना। बोरिक आयन्टमेन्ट, किसी भी डाक्टर से मिल सकती है।

ii. देसी दवा—त्रिफला के पानी से अंग को धोकर त्रिफला की मरहम बनाकर लगाना। यह मरहम त्रिफला को जलाकर उसकी राख को घी या वैज़लीन में मिलाने से आसानी से बन जाती है।

(५) उक्त चार बातों के साथ दैनिक चर्या को भी नियमित रखना चाहिये। इसका महत्त्व जितना हमारे पूर्वजों ने समझा था, उतना आजकल नहीं समझा जाता। जल्दी उठना, जल्दी सोना, सोते हुए मुँह न ढँकना, शौच नियमित रूप से जाना, पेट साफ़ रखना, दातुन करना, व्यायाम, प्राणायाम, स्नान तथा सन्ध्या आदि बातें साधारण मलूम पड़ती हैं, परंतु

ब्रह्मचर्य-रक्षा पर इनका कम असर नहीं पड़ता ।

ब्रह्मचर्य-साधना के लिये ये बाह्य साधन अपेक्षित हैं। परन्तु इन साधनों के अतिरिक्त आभ्यन्तर साधनों की भी आवश्यकता है। इस बात को कभी न भूलना चाहिये कि कुचेष्टा—चाहे वह अपनी 'इच्छा' के कितनी ही विरुद्ध क्यों न हो—अपनी 'इच्छा' के बिना नहीं हो सकती। शरीर तो मन की 'इच्छा' का ही पालन करता है ; कुचेष्टा में प्रवृत्त व्यक्ति की 'इच्छा' के ही दो टुकड़े हो चुके होते हैं। उसकी इच्छा 'एक' नहीं रहती । इसीलिये किसी भी बुरी लत को दूर करने के लिये, और ख़ासकर कुचेष्टा को हटाने के लिये, 'इच्छा-शक्ति' का दृढ़ करना जरूरी है। अपनी इच्छा को 'एक'—अविभक्त बनाओ ! उसे सशक्त बनाओ ! जिस काम को तुम अच्छा समझो, वह कितना ही कठिन क्यों न हो, उसे कर दिखाओ ! जब तक संकल्प-शक्ति और प्रतिरोध-शक्ति का संचय न किया जाय, तब तक किसी भी बुराई को जीतना असम्भव है, कुचेष्टाओं के लोहमय पञ्जे से छुटकारा पाना तो अत्यन्त असम्भव है। पीठ सीधी करके, गर्दन तानकर, इन्सान बनकर रहो ! शैतान के प्रलोभनों को पाँवों से ठुकराना सीखो ! आँखें ताने रहो ! कमर को झुकने मत दो ! फिर देखो कुचेष्टाओं का भूत तुम्हारे सम्मुख कैसे ठहरता है ? तुम पीछे से पछताते हो, इसका कारण तो तुम्हारी ही भूल है। कुचेष्टाओं का शिकार तो बनता ही कमजोर 'इच्छा-शक्ति' का आदमी है। संकल्प-शक्ति को दृढ़ बनाने का अभ्यास करो।

इस विषय पर जो साहित्य मिले, उसका अध्ययन करो । प्रो० जेम्स ने अपनी पुस्तक 'प्रिन्सिपल्स ऑफ साइकोलॉजी' में 'आदत' पर एक बहुत अच्छा अध्याय लिखा है, उसे पढ़ो । उसे पढ़ने से समझ में आ जायगा कि मनुष्य के स्नायु-चक्र का 'इच्छा-शक्ति' को बनाने तथा बढ़ाने में कितना बड़ा हिस्सा है । उस अध्याय में दिये गये निर्देश क्रियात्मक तथा उपयोगी हैं, अतः उनका संक्षेप में सारांश नीचे दिया जाता है, जो विस्तार से पढ़ना चाहें, वे उसी पुस्तक को पढ़ें ।

१. पहला नियमः—किसी भी आदत को नये सिरे से बनाने, अथवा पड़ी हुई को छोड़ने का पहला सिद्धांत यह है कि उसका प्रारम्भ बड़े जोरों से—सारी इच्छा-शक्ति के जोर से—करो । पहले तो संकल्प करने में मन का पूरा बल लगा दो, कोई मीन-मेख न रक्खो । फिर उस संकल्प को सफलता-पूर्वक निभाने में जितने भी उपायों का अवलम्बन किया जा सकता है, सबका सहारा लो । यदि कोई बुराई प्रतीत न हो, तो बेशक सबके सामने प्रतिज्ञा करो, और निम्न प्रकार से धीरे-धीरे, परंतु पूरे जोर से, अपने आत्मा को लक्ष्य में रखकर अपने को ही निर्देश करोः—

मैं इस बुरी आदत को छोड़ रहा हूँ,
हाँ—हाँ, छोड़ रहा हूँ, बिलकुल छोड़ रहा हूँ ;
वह देखो, यह छूट रही है,
आ—हा ! यह तो बहुत-सी छूट ही गई है ;
छूट गई—बिलकुल छूट गई,

अब यह न आ-य-गी, आ ही न स-के-गी!!

इन शब्दों को दोहराने में मन की सारी संकल्प-शक्ति लग जानी चाहिये। शांत-एकांत स्थान में, नीरवता की गम्भीरता में, सायंकाल सोने से पूर्व और प्रातःकाल सोकर उठते ही इन शब्दों को बार-बार दोहराओ। ये साधारण शब्द नहीं, जादू भरे शब्द हैं, और इनका असर किसी मंत्र से कम नहीं। रात्रि को दोहराये गये ये वाक्य रात-भर आत्मा में शक्ति भरते रहेंगे और प्रातःकाल के दोहराने से शक्ति का द्विगुणित वेग पाकर कुचेष्टा के टुकड़े-टुकड़े कर देंगे। पहले जैसे प्रलोभन से बचना असम्भव था, वैसे अब उससे गिरना असम्भव हो जायगा! याद रक्खो, गिरावट से बचने के लिये रक्खा हुआ एक-एक क़दम उन्नति के मार्ग में आगे बढ़ाया हुआ क़दम है!

२. दूसरा नियमः—जब तक नई आदत पूरी तरह से तुम्हारे जीवन में अपना स्थान न बना ले, तब तक एक क्षण के लिये भी उसमें अपवाद न होने दो। युद्ध मे छोटी-सी भी विजय आगे आनेवाली बड़ी विजय में सहायक होती है, इसी प्रकार छोटी-सी पराजय भी और पराजयों की तरफ़ ले जाती है। शुरू-शुरू में ढील करना अपने को तबाह कर लेना है। पराजय के पक्ष का जरा भी समर्थन हुआ, तो जय के पक्ष को ही ठेस पहुँचेगी। 'एक बार और'—एक ऐसा कुल्हाड़ा है, जो 'इच्छा-शक्ति' के वृक्ष को जड़ों से काट डालता है। एक बार 'न' कह दिया, और सोच-समझकर कह दिया, तो उसे 'हाँ' में तबदील

कराना किसी के लिये भी असम्भव हो जाना चाहिये। जो कुछ एक बार संकल्प कर लो, जब तक उसे आदत न बना लो, तब तक डटे रहो, उसमें ज़रा-सी भी ढील न आने दो। अंत तक अपवाद न आने पाये, यही नियम बना लो।

३. तीसरा नियम:—जिस संकल्प को करो, उसे क्रिया में लाने का जो भी मौक़ा मिले, उसी को पकड़ लो। मौक़ा यदि हाथ से निकला, तो सदा के लिये ही निकला समझो। समय लौट-लौटकर नहीं आता। यदि अभी से हल लेकर जुत जाओगे, तो जल्दी ही तुम्हारी खेती भी हरी-भरी हो जायगी। जो मौक़े एक बार हाथ से निकल जाते हैं, वे दूर जाकर आदमी को तरसाते ही रहते हैं। उन्हें देख-देखकर तक़दीर को कोसता हुआ अभागा आदमी चिल्लाता है, 'यदि ये मौक़ा मुझे एक बार फिर मिल जाय!'—परंतु शोक कि वह मौक़ा फिर हाथ नहीं आता!!

४. चौथा नियम:—जो आदत डालना चाहते हो, उसके सम्बंध में कुछ-न-कुछ काम प्रतिदिन बिना जरूरत के भी करते रहो। अर्थात् कुछ न करने की अपेक्षा रोज़ छोटे-छोटे कामों में भी अपने में धीरता, वीरता आदि गुणों को उत्पन्न करो। जब परीक्षा का अवसर आयेगा, तो तुम एक-दम नौसिखिये की तरह घबरा न जाओगे। यह एक तरह का बीमा कराना है। जो आदमी अपने घर का बीमा करा लेता है, उसे तात्कालिक कुछ फायदा नहीं होता, अपने पल्ले से देना ही पड़ता है। यह

भी सम्भव है कि उसका फायदा उठाने का अंत तक उसे अवसर ही न मिले। परन्तु यदि किसी दिन घर को आग लग जाय, तो बीमे के लिये खर्च करने के कारण उसका सत्यानाश होने से भी तो बच जाय! इसी प्रकार जो व्यक्ति प्रतिदिन धीरता, वीरता, त्याग, ध्यान तथा संकल्प का कोई-न-कोई कार्य बिना जरूरत के भी करता रहता है, वह मानो अपनी मानसिक तथा आत्मिक शक्तियों का बीमा कराता है। यदि कभी कोई आपत्ति आ पड़ेगी, तो जहाँ गद्दों में लोटनेवाले गद्दों के साथ हवा में फूस की तरह उड़ जायँगे, वहाँ प्रतिदिन आत्मा की साधना मे लगे रहनेवाले चट्टान की तरह अचल खड़े रहेंगे।

संकल्प-शक्ति को बढ़ाने के साथ-साथ अपने मन के पर्दों को खोल-खोलकर उनको परख भी करनी चाहिए। सोचो, तुम्हारी शिकायत का कारण क्या है?—कहीं 'कुत्सित संकल्पों' से तो तुम्हारा नाश नहीं हो रहा?—कहीं तुम अकेले बैठे-बैठे तो मन के घोड़े को नहीं दौड़ाया करते?—कहीं मानसिक चित्रपट पर कल्पना की रेखाओं से ऐसे चित्र तो नहीं बनाते रहते, जिनसे मिलती-जुलती ठोस वस्तु इस दुनिया में ढूँढ़ने से भी नहीं मिलती? यदि ऐसा है, तो अब 'बस' कर दो। एकान्त में बैठना छोड़ दो। याद रक्खो, दो तरह के आदमियों को समाज से डर लगता है—या महात्माओं को या पापियों को। यदि तुम इनमें से पहले नहीं हो, तो दूसरे होगे। ये 'कुत्सित संकल्प' तुम्हारा सर्वनाश करके छोड़ेंगे। ये तुम्हारे हृदय में उन-उन चित्रों की रचना करेंगे, जो

मनुष्यों के संसार में दिखाई नहीं देते।—कहीं उपन्यास पढ़ते-पढ़ते तो तुम्हारा मानसिक क्षितिज धुँधला नहीं हो गया ? यदि ऐसा है, तो इन्हें जमीन पर पटक दो, ऐसी पुस्तकें पढ़ो, जिनसे तुम्हारे पल्ले कुछ पड़े। जिस मनुष्य का मन पवित्र है, जिसमें 'कुत्सित संकल्पों' की बाढ़ नहीं आई, वह कुचेष्टाओं में भी नहीं पड़ता। अच्छी पुस्तकें पढ़ो। यदि तुम अभी छोटे हो, तो अपने बड़े भाई से या अध्यापक से पूछकर ही किसी पुस्तक को हाथ लगाओ; यदि तुम समझदार हो, तो अपने छोटे भाई के हाथ मे कोई गंदी किताब न आने दो। छापेखाने बढ़ रहे हैं, किताबों के भी ढेर-के-ढेर निकल रहे हैं। लोग कमाने के लिये सब-कुछ बेतहाशा लिख रहे हैं, इसलिये यदि दो अक्षर सीख गए हो, तो सँभले भी रहो। बुरे साथियों का संग छोड़ दो। आग लगे उस दोस्त की दोस्ती को, जिसका उद्देश्य तुम्हे पथ-भ्रष्ट करने के सिवा कुछ नहीं है। साथ ही 'निठल्ले' मत बैठो। निठल्लेपन के चर्खे से ही तो कुत्सित संकल्पों का सूत काता जाता है। काम में लगे रहो, क्योंकि ख़ाली दिमाग़ शैतान का घर होता है। मन को बंदर की तरह हर समय कुछ-न-कुछ करने को मिलना चाहिए। काम को बदल देना ही मन का आराम है। काम को छोड़ देने से तो यह तबाही मचा देता है। ठाली मत बैठो। मन में पवित्र विचार और पवित्र संकल्प भर दो; फिर, शर्तिया कहा जा सकता है कि तुम कुचेष्टा में कभी न पड़ोगे। तुम्हारे पास समय ही कहाँ होगा ?

मन के लिये तीन चीज़ें ज़हर हैं—'ठालीपन', 'कुत्सित

सकल्प', 'चिंता'। ख़ालीपन का मतलब है जब मन ख़ाली हो; कुत्सित संकल्प का मतलब है जब मन भरा हुआ हो—बदबू से भरा हो। परन्तु मन ख़ाली तो रह ही नहीं सकता। मनुष्य ख़ाली हुआ नहीं, और संकल्प-विकल्पों ने अपने साज-सामान के साथ डेरा डाला नहीं। चिन्ता—यह मन की तीसरी अवस्था है। इसमें मन भरा होता है, परन्तु ख़ाली होना चाहता है, और ख़ाली होने का कोई रास्ता नहीं दिखाई देता—बस, यह दुविधा की अवस्था ही चिन्ता है। चिंता से अनेक उच्च आत्माओं का पतन हुआ है। चिंता-ग्रस्त व्यक्ति के लिये कुचेष्टाओं का शिकार हो जाना असाधारण बात नहीं है। शायद इस प्रकार वह अपने को थोड़ी देर के लिये चिन्ता के असीम बोझ से मुक्त पाता है, परन्तु यह मुक्ति उस पर पहले से भी ज्यादा आत्म-ग्लानि का बोझ लाद देती है। 'ख़ालीपन', 'कुत्सित संकल्प' तथा 'चिंता'—ये तीनों मानसिक पाप हैं। इनसे मस्तिष्क की स्नायवीय शक्ति पर आघात पहुँचता है, मनुष्य के अखण्ड शक्ति-भण्डार का ह्रास होता है। इन तीनों के उपद्रवों से बचने के लिये 'संकल्प-शक्ति' का सञ्चय करना ही सर्वोत्तम उपाय है।

अष्टम अध्याय

'इन्द्रिय-निग्रह'

[ख, पत्नी-व्यभिचार]

हम पहले देख चुके हैं कि 'अमीबा' की रचना में लिंग-भेद नहीं होता। उसके उत्पन्न होने तथा बढ़ने में नर-तत्त्व तथा मादा-तत्व कारण नहीं होते। उसी के टुकड़े होते जाते हैं और नये अमीवा पैदा होते जाते हैं। एक ही अनेक हो जाता है। और क्योंकि एक ही अनेक होता है, उसमें नवीन तत्त्व का समावेश नहीं होता, इसलिये उससे कोई परिवर्तन भी नहीं आता। अमीबा मरता भी नहीं, भागों में विभक्त हो जाता है। विभजन-क्रिया से यह सृष्टि के अन्त तक जीता रहेगा। अमीबा की इस प्रकार की उत्पत्ति को एक-लिंगी-उत्पत्ति (ए-सैक्सुअल जनरेशन) कह सकते हैं। सृष्टि के प्रारम्भ से अब तक यदि प्रकृति एक-लिंगी-उत्पत्ति द्वारा ही कार्य करती, तो प्राणियों की रचना में परिवर्तन तथा उन्नति, दोनों न दिखाई देते। इसलिये शरीर-रचना में विविधता उत्पन्न करने के लिये प्रकृति ने अपने पुराने तरीक़े को बदलकर नये तरीक़े से काम लेना शुरू किया। यह तरीक़ा लिंग-भेद का है। इसमें द्वि-लिंगी-उत्पत्ति (सैक्सुअल या बाई-पेरेन्टल जनरेशन) होती है। प्राणि-रचना में नर-तत्त्व तथा

मादा-तत्त्व दोनों काम करते हैं और अमीबा की तरह मूल-तत्त्व का आधा-आधा हिस्सा अलग होकर ही काम नहीं चल जाता। दो भिन्न-भिन्न तत्त्वों का संयोग होता है, और, क्योंकि वे तत्त्व भिन्न-भिन्न हैं, इसलिये उनके मिलने से अनेक नवीन गुणों के प्रादुर्भूत होने की सम्भावना बनी रहती है। जिन भिन्न-भिन्न शरीरों में ये दोनों तत्त्व उत्पन्न होते हैं, वे तो अपनी आयु भुगत-कर नष्ट हो ही जाते हैं, परन्तु उनके गुण इन दोनों तत्त्वों—शुक्र-कण तथा रजःकण—द्वारा अमर हो जाते हैं।

शुक्र-कण तथा रजःकण के संयोग में जो नियम काम कर रहे हैं, वे ही मनुष्य-शरीर में काम कर रहे हैं। दो मूल-उत्पादक-तत्त्व तो 'पुरुष' तथा 'स्त्री' हैं। इन तत्त्वों का संयोग 'विवाह' कहाता है। शुक्र-कण तथा रजःकण का जो पारस्परिक स्वाभाविक आकर्षण है, वही मानव-जीवन में 'प्रेम' है। जिस प्रकार इन दोनों उत्पादक तत्त्वों के संयोग से नव-जीवन प्रारम्भ होता है, इसी प्रकार दम्पती के पारस्परिक प्रेम से ही 'गृहस्थ' चलता है। इन दोनों परस्पर विरोधी तत्त्वों के मिलने से ही प्राणि-जीवन में नवीनता आती है, इसी प्रकार समाज के संगठन में पुरुष तथा स्त्री, दोनों के सहयोग से मानव-समाज की 'उन्नति' हो सकती है।

पुरुष स्त्री की तरफ़ खिंचता है, स्त्री पुरुष की तरफ़ खिंचती है। यह अनुभव विश्व-व्यापी है। इसमें कुछ बुरा भी नहीं, यह सृष्टि का नियम ही है, इसके बिना सृष्टि ही नहीं चल सकती। इसीलिये शास्त्र ने विवाह की आज्ञा दी है।

विवाह एक बन्धन है, परन्तु जब तक इस बन्धन में प्रेम के तन्तु ओत-प्रोत हैं, तब तक यह बन्धन भी मोक्ष से बढ़कर है। प्रेम एक आग है! भोले गृहस्थी नहीं समझते कि प्रेम की आग को किस प्रकार सुलगती रक्खा जाय। वे पतंग की तरह दीप-शिखा पर प्राण न्योछावर कर देना जानते हैं—कविता के अर्थों में नहीं, किन्तु मोटे अर्थों में! विवाह के बाद स्त्री-पुरुष दोनों कामाग्नि को प्रचण्ड कर उसमें कूद पड़ते हैं। उन्हें पता नहीं होता कि प्रचण्ड लपटों के बाद आग शान्त हो जाती है, कुछ ही देर में राख का ढेर लग जाता है। यह सच है कि स्त्री तथा पुरुष एक दूसरे के भूखे होते हैं, परन्तु यह भी सच है कि भूखा सदा ज्यादा खा जाता है। ज्यादा खानेवाले का मेदा बिगड़ जाता है, वह भूख लगने को दवाइयाँ खाने लगता है। दवाइयों से नक़ली भूख जागती है, परन्तु नक़ली भूख से कौन कितने दिनों तक जी सकता है? ज्यादा खाने से कुछ दिनों मे खाना ही मुश्किल हो जाता है। विषय-भोग में बह जाने-वाले भी विषय-भोग के काम के नहीं रहते। भूख का सबसे बड़ा शत्रु ज्यादा खाना है; प्रेम का सबसे बड़ा शत्रु विषय में लिप्त हो जाना है। भूखे को सबसे पहले ग्रास में जो आनन्द आता है, वही नव-दम्पती को विषय में आता है; भूखे को ज्यादा खाकर अपचन हो जाता है, नया जोड़ा भी संयम तोड़-कर विषय में लिप्त हो जाने से ठण्डा पड़ जाता है। एक दूसरे के प्रति तड़पते दिलों को लेकर थोड़े ही दिनों में ठण्डे हो जाने-

वाले स्त्री-पुरुषों की गणना ली जाय, तो सहज समझ पड़ जाय कि प्रेम को विषय-भोग के साथ कितनी शत्रुता है!

विवाह रूपी रथ को चलाने के लिये उसकी धुरी में प्रेम रूपी तेल पड़ता रहना चाहिये, नहीं तो रगड़ पैदा हो जाती है, और यह गाड़ी रास्ते में ही खड़ी हो जाती है। मूर्ख दम्पती समझते हैं कि विषय-भोग से ही गृहस्थ सुखी रह सकता है। उन्हे मालूम नहीं कि विषय-भोग प्रेम का भद्दे-से-भद्दा रूप है। असली प्रेम आत्मा से सम्बन्ध रखता है, शारीरिक प्रेम आध्यात्मिक प्रेम की केवल छाया है, यह उसको वास्तविकता को नहीं पा सकता। जिस प्रकार का जीवन नवयुवक विवाह के बाद व्यतीत करते हैं, वह तूफान का जीवन होता है। इस तूफान में उन्हें आगा-पीछा कुछ नहीं सूझता; तूफान निकल जाने पर साँस के लिये हवा का एक झोंका मिलना भी मुश्किल हो जाता है। शुरू-शुरू मे मानो प्रेम उमड़ा पड़ता है; बाद को प्रेम की एक बूँद भी नहीं बच रहती। वे कहने लगते हैं कि 'प्रेम' वस्तु ही ऐसी है। परन्तु यह उनकी भूल है। डॉक्टर लूथर एच. गुलिक महोदय 'डायनेमिक ऑफ् मैनहुड'-नामक पुस्तक में लिखते हैं:—"यह बिल्कुल सम्भव है कि एक पुरुष किसी स्त्री से विवाह करे, और ज्यों-ज्यों समय बीतता जाय, त्यों-त्यों उसे अनुभव हो कि उसकी पत्नी पहले की अपेक्षा कहीं अधिक आकर्षक होती जा रही है, कोमलता तथा सौन्दर्य में बढ़ती जा रही है, लता की तरह अपने प्रेम के तन्तुओं से उसके हृदय

को चारों तरफ़ से आवेष्ठित करती जा रही है। उसे अनुभव होने लगता है कि स्त्री-पुरुष का शारीरिक आकर्षण यद्यपि आवश्यक है, तथापि वास्तविक प्रेम का आधार कोई ऊँची ही वस्तु है। उसे अपनी पत्नी की बातों में आनन्द आने लगता है; उसका दृष्टि-बिन्दु एक नवीन सौन्दर्य को उत्पन्न कर देता है। वह अपनी पत्नी के लिये कोई नई चीज़ लाता है—नई पुस्तक लाता है, या नया चित्र ही ले आता है—इन सबसे उसके हृदय में जो विचार पहले नहीं उठे थे, वे उसे अपनी पत्नी से सुनने का सौभाग्य प्राप्त होता है, क्योंकि पुरुष प्रत्येक वस्तु को पुरुष की तथा स्त्री, स्त्री की दृष्टि से देखती है। इस प्रकार दोनों का प्रेम बढ़ता चला जाता है। प्रेम के इस स्वरूप को समझनेवाले थोड़े हैं—वे विषय-भोग को ही प्रेम समझते हैं, परन्तु वास्तव में प्रेम संकुचित वस्तु नहीं है, वह रात्रि के पापमय एकान्त में ही नहीं, परन्तु चौबीसों घण्टे प्रकट हो सकता है, और इसी प्रकार का प्रेम टिकनेवाला भी होता है।"

पुरुष अपनी बेवक़ूफ़ी से समझता है कि स्त्री का संतोष काम-भाव से ही होता है। उसे मालूम नहीं कि स्त्री से बातचीत क्या करे, उसके साथ काम-चर्चा को छोड़कर २४ घण्टे किस तरह बिताये? साथ ही हमारा समाज इतना गन्दा है कि प्रत्येक पुरुष के दिमाग़ में भर दिया जाता है कि स्त्री का सन्तोष काम-भाव से ही हो सकता है। स्त्री के विषय में ये गन्दे विचार इतना घर कर गये हैं कि गृहस्थी आवश्यकता ही नहीं समझता

कि अपनी स्त्री की इच्छा को भी जाने। गृहस्थियों पर काम का भूत इतना सवार नहीं रहता, जितना इन विचारों का भूत। काम से प्रेरित होकर नहीं, परन्तु इन विचारों से प्रेरित होकर गिरने-वालों की संख्या कहीं अधिक है। प्रत्येक गृहस्थी को स्मरण रखना चाहिये कि स्त्री भी पुरुष के समान अपने शरीर की स्वामिनी है। स्त्री की इच्छा के बिना पुरुष का उसे हाथ लगाना भी बलात्कार है। अनियमित विषय-भोग से प्रेम नष्ट हो जाता है। काम-चर्चा को छोड़कर अपनी पत्नी के साथ २४ घण्टे बिताना प्रत्येक गृहस्थी को सीखना चाहिये; जैसे अपने साथियों के साथ पुरुष समय बिता सकता है, वैसे अपनी स्त्री के साथ क्यों नहीं बिता सकता। चाहे स्त्री पढ़ी-लिखी हो, चाहे न हो, प्रत्येक पुरुष को अपनी स्त्री के साथ एक साथी की तरह बातचीत करनी चाहिए, ऐसे उपाय निकालने चाहिए, जिनसे समय बिताया जा सके। तभी उनमें स्थिर प्रेम उत्पन्न हो सकता है।

विषय में लिप्त हो जाने से मनुष्य उससे भी हाथ धो बैठता है। इससे स्त्री-पुरुष का एक दूसरे से जी ऊब जाता है, कभी-कभी घृणा भी पैदा हो जाती है, जीवन शून्य, आत्म-हीन हो जाता है। विवाह-बन्धन में पड़ने से पहले प्रत्येक दम्पती को डॉक्टर कोवन की निम्न पंक्तियाँ अवश्य पढ़ लेनी चाहियेः—"नई शादी करके पुरुष तथा स्त्री विषय-भोग की दलदल में जा धँसते हैं। विवाह के प्रारम्भ के दिन तो मानो नैत्यिक व्यभिचार के दिन होते हैं। उन दिनों में ऐसा जान पड़ता है, जैसे विवाह-

जैसी उच्च तथा पवित्र संस्था भी मानो मनुष्य को पशु बनाने के लिये ही गढ़ी गई हो। ऐ नव-विवाहित दम्पती! क्या तुम समझते हो कि यह उचित है?—क्या इस प्रकार तुम्हारा आत्मा नहीं गिरता?—क्या विवाह के पर्दे में छिपे इस व्यभिचार से तुम्हें शान्ति, बल तथा सन्तोष मिल सकते हैं?—क्या इस व्यभिचार के लिये छुट्टी पाकर तुममें प्रेम का पवित्र भाव बना रह सकता है? देखो, अपने को धोखा मत दो! विषय-वासना में इस प्रकार पड़ जाने से तुम्हारा शरीर और आत्मा, दोनों गिरते हैं; और प्रेम! प्रेम तो, यह बात गाँठ बाँध लो, उन लोगों में हो ही नहीं सकता, जो संयम-हीन जीवन व्यतीत करते हैं। नई शादी के बाद लोग विषय में बह जाते हैं; इस तरफ कोई ध्यान ही नहीं देता; परन्तु इस अन्धेपन से पति-पत्नी का भविष्य—उनका आनन्द, बल, प्रेम—खतरे में पड़ जाता है। संयम-हीन जीवन से कभी प्रेम नहीं उपजता—संयम को तोड़ने पर सदा घृणा उत्पन्न होती है, और ज्यों-ज्यों जीवन में संयम-हीनता बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों पति-पत्नी का हृदय एक दूसरे से दूर होने लगता है। प्रत्येक पुरुष तथा स्त्री को यह बात समझ रखनी चाहिये कि विवाहित होकर विषय-वासना का शिकार बन जाना शरीर, मन तथा आत्मा के लिये वैसा ही घातक है, जैसा व्यभिचार। स्त्री-पुरुष के पारस्परिक रति-भाव के लिये स्त्री की स्वाभाविक इच्छा का होना आवश्यक है और यह इच्छा ऋतु-धर्म के ठीक बाद ही होती है, फिर नहीं। ऋतु-धर्म

के बाद प्रत्येक स्वस्थ स्त्री को इच्छा होती है, यदि वह पति पर अपनी इच्छा किसी प्रकार प्रकट कर द, तभी पुरुष का स्त्री-सग होना चाहिये, अन्यथा नहीं, कभी नही! इसके विपरीत यदि पति अपनी इच्छा, अथवा कल्पित इच्छा, पूर्ण करना अपना वैवाहिक अधिकार समझे, और स्त्री केवल पति से डर कर उसकी इच्छा को पूर्ण करे, तो परिणाम पुरुष के मस्तिष्क पर वैसा ही होगा, जैसा हस्त-मैथुन का।"

'विवाह' और 'व्यभिचार'—वह भी 'पत्नी-व्यभिचार'। इस शब्द को बोलते और लिखते ही शर्म आती है, परंतु अफ़सोस! यह शब्द सच्चा है, अत्यन्त सच्चा। विवाह करके तो पुरुष समझते हैं, उन्हें जो-कुछ करने के लिये क़ानूनी पर्वाना मिल गया—अब दिन-रात वे कुछ भी करें, उन्हें रोक सकनेवाला कोई नहीं! परंतु वे भोले समझते नहीं कि संयम-हीन जीवन चाहे विवाह करके बिताया जाय, चाहे बिना विवाह के, ईश्वरीय नियमों के सम्मुख दोनों अवस्थाओं मे वह व्यभिचार है, मनुष्य चाहे 'विवाह'- शब्द की दुहाई देकर अपनी आत्मा को धोखा देने की कितनी ही कोशिश क्यों न करता रहे! जब मुक़द्दमा बड़ी अदालत में पेश होगा, तब संयम-हीनता के लिये समाज की आज्ञा ले लेना क़ुदरती कानूनों से छुटकारा नहीं दिला सकेगा। इच्छा न होते भी पत्नी-संग करना हस्त-मैथुन से भी बुरा है। हस्त-मैथुन में तो पुरुष अपनी ही तबाही करता है; पत्नी-व्यभिचार में वह उस पापी की तरह आचरण करता है, जो आत्मघात

करता हुआ दूसरे की भी निर्दयता-पूर्वक हत्या कर डालता है। जीवन-संगिनी अपनी पत्नी को विषय-वासना की तृप्ति का साधन-मात्र बना लेना संसार का सबसे बड़ा पाप है, और स्त्री के साथ किया गया सबसे बड़ा अन्याय है। हस्त-मैथुन पाप है, वेश्यागमन भी पाप है, परन्तु जो पति अपनी पत्नी की इच्छा के बिना उस पर बलात्कार करता है, वह इन सब पापों को एक साथ कर बैठता है—इसलिये पत्नी-व्यभिचार महापाप है। विवाह-जैसी पवित्र संस्था की ओट में यह महापातक जीता है, इसलिये इसके परिणाम भी कम भयंकर नहीं हैं।

गृहस्थी जान-बूझकर संयम तोड़ते हैं; इससे वे कैसे बचें? बचने का उपाय अत्यन्त सरल है। स्त्री को पशु न समझकर उसे मनुष्य समझा जाय। यह अनुभव किया जाय कि जिस प्रकार पुरुष, समाज की तथा देश की घटनाओं पर विचार कर सकते हैं, इसी प्रकार स्त्रियाँ भी इन विषयों में दिलचस्पी ले सकती हैं। वे पुरुषों के ही समान हैं, पुरुषों की साधन-मात्र नहीं हैं। स्त्रियों में जहाँ यह भावना उठेगी, वहाँ संयम स्वयं आ जायगा। इस समय स्त्री का स्थान पुरुष के जीवन में उसकी काम-वासना को तृप्त करने के अतिरिक्त कुछ नहीं है, पुरुष स्त्री के निकट आते ही काम-भावों के सिवा कुछ नहीं सोच सकता। जब पुरुष तथा स्त्री किसी एक विषय पर बातचीत ही नहीं कर सकते, दोनों की प्रगति अलग-अलग, दोनों की मानसिक रचना अलग-अलग, दोनों का क्षेत्र अलग-अलग, तब वे मिलकर वही तो बात करेंगे,

जो दोनों कर सकते हैं । यदि दोनों, जीवन की भिन्न-भिन्न घटनाओं मे समान हिस्सा ले सकें, साथ-साथ बैठकर भिन्न-भिन्न विषयों पर विचार कर सके, इकट्ठे काम कर सकें, तो स्त्री-पुरुष की एक दूसरे के प्रति जो स्वाभाविक आकांक्षा होती है, वह पूरी होती रहे और विषय-भोग ही स्त्री-पुरुष के एक लेवल पर आने का एकमात्र माध्यम न रहे। प्रत्येक पति का कर्तव्य है कि अपनी पत्नी की रुचि अपने दैनिक कार्यों में उत्पन्न करे, उसमें देश तथा समाज की घटनाओं पर स्वतन्त्र विचार करने की शक्ति पैदा करे, उसे समाज का एक अंग बनाने की कोशिश करे । यदि ऐसा न होगा, स्त्री को पर्दे की चीज समझा जायगा, उसे चिड़िया और बुलबुल बनाकर उसके साथ खेलने के समय ही उसे पिंजड़े मे से निकाला जायगा, तो गृहस्थ भी पाप का गढ़ा बना रहेगा, जैसा कि इस समय बना हुआ है।

विषय में ज्यादा फॅसावट का कारण समाज में फैले हुए कई झूठे विचार भी हैं। हरएक गृहस्थी को उसके दोस्त यह समझाने की कोशिश करते हैं कि स्त्री काम-भाव को पसन्द करती है। इस झूठी बात के सिवा स्त्री के विषय में उसे न कुछ पता ही होता है, न बताया ही जाता है। वह समझता है कि यदि वह यह सब-कुछ न करेगा, तो स्त्री उसे नपुंसक समझेगी, उससे घृणा करेगी। उसे बतलाया जाता है कि स्त्री के लिये पुरुष का पुरुषत्व यही है—बस, और कुछ नहीं ! जैसा पहले कहा गया, इन 'विचारों का भूत पुरुष को जितना डिगने की तरफ़ ले जाता

है, उतना 'काम' का भूत नहीं। कौन पुरुष है, जिस पर काम का भूत सदा सवार रहता हो; परन्तु कौन पुरुष है, जो इन झूठे, गन्दे, सत्यानाशी विचारों के चक्कर में आकर अपने ऊपर काम के भूत को सवार न कर लेता हो! स्त्री के विषय में इस प्रकार की धारणा रखना उसकी आध्यात्मिकता का तिरस्कार करना है। पुरुष तथा स्त्री, दोनों को समझ रखना चाहिये कि काम का भूत न पुरुष पर ही सवार रहता है, न स्त्री पर ही, झूठे फैले हुए विचारों से ही दोनों इस भूत के शिकार हो रहे हैं और एक दूसरे की आत्मिक उन्नति में सहायक होने के बदले एक दूसरे को गिराने में बढ़-बढ़कर हाथ ले रहे हैं!

नवम अध्याय

'इन्द्रिय-निग्रहः'

[ग. वेश्या-व्यभिचार]

विवाह-संबंध के अतिरिक्त स्त्री-पुरुष का संबंध व्यभिचार कहाता है। आत्म-व्यभिचार तथा पत्नी-व्यभिचार की तरह यह भी जान-बूझकर किए आत्म-पतन में गिना जाता है, क्योंकि इसमें भी मनुष्य जानता-बूझता गढ़े में कूद पड़ता है। इस समय हमारा समाज कुत्सित वासना की दुर्गंध के रौरव नरक में पड़ा सड़ रहा है। स्त्री को काम-क्रीड़ा की कठपुतली समझा जाता है—पुरुष जब चाहे, उससे खेलता है। भोग और लालसा की वेदी पर स्त्री का सतीत्व नित्य बलि चढ़ाया जाता है। नारी के प्रति उच्च विचार उपहास की वस्तु समझे जाते हैं। कहने को कितना ही क्यों न कहा जाय कि इस समय पाश्चात्य-जगत् में स्त्री की स्थिति पुरुष के समान होती जा रही है, परन्तु जब तक पूर्व-पश्चिम—कहीं भी समाज के मस्तक पर वेश्यावृत्ति के कलंक का टीका विद्यमान है, तब तक वह समाज गिरा हुआ है, समस्त स्त्री-समाज के घोर अपमान का अपराधी है। इस समय भारत में ५ लाख से अधिक वेश्याएँ हैं, जिनकी वार्षिक आय मिलाकर लगभग पौन अरब रुपया है! 'न स्वैरी स्वैरिणी कुतः' की

साभिमान घोषणा करनेवाले अश्वपति कैकय के देश की आज यह दुर्दशा है ! क्या उस महीपति का आत्मा इस देश की दशा को देखकर गर्म आहें नहीं भर रहा होगा ?

इस पतन का प्रारम्भ कहाँ से होता है ?—इसका प्रारंभ होता है समाज द्वारा स्त्रियों पर किए गए अत्याचारों से ! यदि कोई नर-पिशाच बलात्कार से भी किसी अबला का सतीत्व अपहरण कर ले, तो उस निर्दोष अबला को समाज में से धक्के देकर बाहर निकाल दिया जाता है, परन्तु वह पापी पहले की तरह ही दनदनाता हुआ अपने पैसे के ज़ोर से समाज के वक्षः-स्थल को एड़ियों के नीचे कुचलता चला जाता है। वह अबला क्या करे ?—क्या खाए ?—क्या पहने ?—कहाँ रहे ? दुखों की सताई, आफ़त की मारी, समाज के अन्याय-पूर्ण अत्याचारों से पीड़ित होकर वह झुँझला उठती है, लज्जा के आवरण को ताक़ में रख देती है, क्योंकि समाज उसे चुनौती दे-देकर कहता है—'तुम्हारे लिये यही रास्ता है, तुम पीछे कदम नहीं रख सकती !' अनुभव उसे सिखा देता है कि जो लोग माँगने से पैसा तक नहीं निकालते, वे ही नराधम अपनी पाशविक काम-पिपासा की तृप्ति के लिये ख़ज़ाने लुटा देते हैं ! वह बालिका जो किसी घर का आभूषण बनती, किन्हीं पुत्र-रत्नों को जनती, समाज से ठोकरें खाकर चौराहे में अपने शरीर को बेचने के लिये बैठ जाती है, मानो घृणित-से-घृणित कृत्य करके अत्याचारी-समाज का उपहास कर रही हो।

भारत में वेश्यावृत्ति का सम्बन्ध विधवाओं की दिनोंदिन बढ़ रही संख्या से अत्यन्त घनिष्ठ है। इस अभागे देश में विधवाओं की संख्या २॥ करोड़ से अधिक है। यदि भारत में स्त्रियों की संख्या १५ करोड़ मान लें, तो मानना पड़ेगा कि यहाँ प्रत्येक ६ स्त्रियों मे १ विधवा है। आयु का एक-एक पल दुराचार में व्यतीत करनेवाले भी इन विधवाओं से, जिनमें से हज़ारों ने पति के दर्शन तक नहीं किये होते, आशा रखते हैं कि वे आजन्म ब्रह्मचारिणी रहें। धन्य हैं इस देव-भूमि की विधवाएँ, जो पति-दर्शन हुए हों या न हुए हों, विधवा होकर पर-पुरुष के विचार को भी मन में नहीं लातीं। उन्हीं के सतीत्व से इस भूमि में अब तक भी कुछ दम है। परन्तु विधवाओं पर यह क़ैद लगाकर यदि पुरुष भी उन पर बुरी नज़र न उठाते, तभी तो वे बच सकतीं! वे विवाह न करें, और ये उन पर अपना जाल फैलाने से बाज़ भी न आएँ, तो व्यभिचार फैलाने के सिवा और परिणाम ही क्या हो सकता है?

इसके अतिरिक्त विधवाओं के साथ वर्ताव क्या होता है? एक समृद्ध पुरुष की स्त्री जो पति के जीते समय रानी थी, सारे घर पर राज करती थी, उसके मरते ही घर में दासी से बुरी हो जाती है। जिसे खाने-पीने की कमी न थी, वह सूखे चनों को मोहताज हो जाती है। इस घृणित व्यवहार से, इस आर्थिक समस्या से छुटकारा पाने की चाह यदि किसी अबला को गिरा देती है, तो उसके पाप का उत्तरदायित्व समाज के सर है, क्योंकि

समाज अपने व्यवहार में परिवर्तन नहीं करता, परंतु उस अबला को गढ़े में गिराकर उसका पालन करने लिये तैयार रहता है। यह अपने हाथों पाप के बीज को बोना नहीं तो क्या है?

स्त्री चारों तरफ से समाज की सताई हुई ही इस जघन्य कृत्य में पड़ सकती है। वह अपने पापी पेट की खातिर इस नरक में कूद पड़ता है। समाज अपने व्यवहार को बदलने की अपेक्षा इस पाप को पालना ज्यादा पसन्द करता है, तभी यह पाप पल रहा है, नहीं तो कोई वेश्या ऐसी न होगी, जिसे अपने पेशे से तीव्र घृणा न हो। 'चाँद' के वेश्या-अंक में उसके योग्य सम्पादक लिखते हैं:—"एक युवती वेश्या ने एक बार हमें एक पत्र लिखा था, जिसका आशय इस प्रकार है—क्या आप समझते हैं कि अनेक पुरुषों का मुख देखने से हमें बिल्कुल दुःख नहीं होता? हमारे भी हृदय है और उस हृदय में एक प्रकार की तीव्र पिपासा है, वह क्या इस प्रकार के पतित जीवन से शांत हो सकती है? हम तो पैसे से खरीदी जानेवाली काम की मूर्तियाँ हैं—एक सुन्दर युवक को हम प्रेम करती हैं, परन्तु एक धनी कुत्सित वृद्ध के पैसों के लिये हमें अपना शरीर बेच देना पड़ता है। हमारा जीवन भयंकर अग्नि-कुण्ड के समान है।"

वेश्या-वृत्ति का परिणाम क्या होता है, इसका जाज्वल्यमान चित्र डॉ० फुट ने यों खींचा है—"कल्पना करो कि कोई व्यक्ति ऐसे स्थान पर खड़ा हो जाय, जहाँ से सब लोग आते-जाते हों; वहाँ खड़ा होकर वह कहे कि यदि पैसा मिलेगा,

तो उसे जो कुछ खाने को दिया जायगा, वह खा लेगा। फिर कल्पना करो कि सैकड़ों मनचले नौजवान उसकी बेवकूफी की तारीफ करते हुए उसे खाने को ला-लाकर देने लगे; एक आदमी ऐसी चीज ला दे, जो उसे पसन्द हो, दर्जनों लोग ऐसी चीज लाएँ, जिसे खाते ही उल्टी आती हो, और बीसियों ऐसी चीज लाएँ, जिसकी उसे जरूरत ही न हो या उसके शरीर में गुंजाइश न हो। पेट पर यह अत्याचार दिनों तक, महीनों तक और वर्षों तक होता रहे। दुनिया में कौन-सा आदमी है, जिसका पेट इस दुरुपयोग से बीमारियों का घर नहीं बन जायगा? खाने में थोड़ा-बहुत अनियम कर देने से ही पेट खराब हो जाता है, अपचन की शिकायत हो जाती है; फिर जिस व्यक्ति का चित्र ऊपर खींचा गया है, उसे जो बीमारी होगी, उसका नाम तो भगवान ही जाने क्या होगा! बस, यह समझ रखना चाहिये कि उत्पादक अंगों की रचना पेट से भी कोमल है और यदि उनका दुरुपयोग किया जायगा, तो उनकी बीमारी इतनी भयंकर होगी, जिसका कोई ठिकाना ही नहीं। अधिक विषयासक्ति से ही प्रदर, गर्भ का गिर जाना आदि अनेक उपद्रव उठ खड़े होते हैं; और फिर जब कोई स्त्री पैसे मिलने पर किसी को भी अपने पास आने दे, एक ही दिन-रात में कइयों को आने दे, जिनकी वह रत्ती-भर की पर्वा नहीं करती या जिनसे वह पूरे तौर पर घृणा करती है उन सबको अपने पास आने दे, तो उसके गुह्य-अंगों में विष भर जाना स्वाभाविक है, जो

उसका संसर्ग करेगा, वही उसे विष से आक्रान्त हो जायगा।"
रात्रि के एकान्त में वेश्यालय की तरफ़ क़दम बढ़ाते हुए युवक को स्मरण रखना चाहिये कि 'सब वेश्याएँ किसी-न-किसी समय रोगाक्रान्त होती हैं, और अनेक वेश्याएँ हर समय रोगाक्रान्त रहती हैं।' वेश्याओं से जो बीमारियाँ समाज में फैल जाती हैं, वे अत्यन्त भयानक हैं। प्लेग तथा हैजे के कीटाणुओं को फैलानेवाले चूहों तथा मक्खियों की तरह वेश्याएँ भी गन्दे-गन्दे संक्रामक रोगों की वाहक हैं। प्रो० टारनौस्की का कथन है कि एक वेश्या ने १० महीनों में ६०० पुरुषों को उपदंश से पीड़ित कर दिया। ये पुरुष आगे चलकर जितनी सन्तति को रोगाक्रान्त कर देंगे, उसका हिसाब लगाने से कुछ समझ आ सकता है कि वेश्यावृत्ति करनेवाली स्त्री समाज के लिये कितनी घातक है! वेश्यागृह में प्रविष्ट होकर युवक इन विष-युक्त संक्रामक कीटाणुओं की गठरी को साथ बाँध लाता है, घर में आकर अपनी निष्कलंक पत्नी में उसी विष का संचार कर देता है। उस मूर्ख को पता नहीं होता कि अन्धकार में छिपकर किये हुए उसके पाप, दिन के समय, सबके सम्मुख, शरीर धारण कर उठ खड़े होंगे, और उसके अधःपतन का खुले-आम ढिंढोरा पीटेंगे, यहाँ तक कि कई सन्ततियों तक उसकी गिरावट का ढिंढोरा पीटते जाएँगे। वह स्वयं रोग-पीड़ित हो जाता है; उसकी पत्नी उसके पापों को भुगतती है; उसके बच्चे जन्मते ही उसके पापों को लेकर पैदा होते हैं! दैवीय नियमों का तिरस्कार करनेवालों से बदला लेते

समय प्रकृति रौद्र रूप धारण कर लेती है, और उस विकराल रूप मे ही वह डिगनेवालों को बचने का इशारा कर जाती है!

वेश्यावृत्ति मुख्यतः आर्थिक समस्या तथा सामाजिक दुर्व्यवस्था का परिणाम है। जहाँ तक इसका उद्देश्य आर्थिक होता है, वहाँ तक यह खुले बाज़ार होती है, क्योंकि व्यापारी को बाज़ार की ज़रूरत होती है। कभी-कभी आर्थिक कारणों के अभाव में भी यह वृत्ति पाई जाती है, और क्योंकि उस समय आर्थिक समस्या कारण नहीं होती, अतः ऐसी अवस्था में यह वृत्ति छिपी रहती है। प्रत्येक शहर के बड़े आदमियों के विषय में कहानियाँ प्रचलित होती हैं; लोग कहते हैं, यह उसके यहाँ जाता है, वह उसके यहाँ जाती है; इन कहानियों में जहाँ झूठ की मात्रा होती है, वहाँ सच की मात्रा भी कम नहीं होती। जब परस्पर विरुद्ध गुण-कर्म-स्वभाव के स्त्री-पुरुषों को विवाह के बन्धन में जकड़ दिया जाता है, तो थोड़े ही दिनों मे दोनों की आँखें खुल जाती हैं। जहाँ तलाक़ हो सकता है, वहाँ पति-पत्नी अदालतों का सहारा लेते हैं, और जहाँ तलाक़ नहीं हो सकता, एक बार की ग़लती को आजन्म भुगतना होता है, वहाँ छिपे रास्ते निकल आते हैं। भारत में माता-पिता सन्तान का विवाह कर देना धार्मिक कृत्य समझते हैं, परन्तु इस पवित्र कार्य को करते हुए वे यह भूल जाते हैं कि जिन दो आत्माओं को जन्म-भर के लिए जोड़ने की वे ज़िम्मेवारी ले रहे हैं उनमे कुछ समता भी है या नहीं! जात-पात को वे देख लेते हैं,

परन्तु स्वभावों की अनुकूलता को, योग्यता की समानता को देखना वे आवश्यक नहीं समझते। इससे बढ़कर दुःख की बात क्या हो सकती है कि विवाह-जैसी घटना, जो जीवन में एक बार ही होती है, जिस पर मानव-जीवन का भविष्य निर्भर है, हो जाती है, और उसका जिनसे सबसे ज्यादा सम्बन्ध है उनसे एक अक्षर तक नहीं पूछा जाता! माता-पिता आपस में ही सब तय कर डालते हैं, मानो लड़के-लड़की की शादी क्या होगी, माता-पिता की शादी हो रही हो! यह अवस्था गृहस्थों को अशांत बना देती है, वे सीधे मार्ग से न चलकर उल्टे मार्ग से चलने लगते हैं। इसी दुर्व्यवस्था को रोकने के लिये प्राचीन काल से 'स्वयंवर' होता था—माता-पिता की देख-रेख में, उनकी संरक्षा में, उनकी सलाह से, लड़की लड़के को वरती थी, और लड़का लड़की को स्वीकार करता था! इसी प्रथा का फिर से प्रचार होना चाहिये। देश की आर्थिक स्थिति को सुधारने, विधवाओं के साथ दुर्व्यवहार को रोकने तथा गुण-कर्मानुसार विवाह की प्रथा को चलाने से ही वेश्यावृत्ति के प्रश्न को हल किया जा सकता है।

दशम अध्याय

'इन्द्रिय-निग्रहः'

[घ. स्वप्न-दोष]

अस्वाभाविक जीवन पर विचार करते हुए पहले लिखा गया था कि इसे दो भागों मे बाँटा जा सकता है—जान-बूझकर संयम तोड़ना, और बिना जाने संयम का टूट जाना। जान-बूझकर संयम-हीन जीवन के मुख्यतः तीन प्रकार होते हैं, जिन पर पिछले तीन अध्यायों में पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। बिना जाने संयम टूट जाना प्रायः स्वप्नावस्था में होता है, और इसीलिये इसे चालू भाषा में 'स्वप्न-दोष' कहा जाता है। पिछले तीन अध्यायों में वर्णित पाप मनुष्य की जागृतावस्था के पाप हैं, उन्हें मनुष्य जान-बूझकर करता है; उनसे बचना चाहे, तो बच सकता है, इसलिये वे पाप हैं; स्वप्न-दोष सोते हुए हो जाता है, अपनी इच्छा के न होते हुए भी हो जाता है, कभी-कभी इसे रोकने की प्रबल इच्छा के होते हुए भी हो जाता है, इसलिये यह पाप नहीं, परन्तु एक प्रकार का 'रोग' है।

स्वप्न-दोष का अर्थ है सोते समय वीर्य-पात हो जाना। इसके विषय में बड़ा मत-भेद पाया जाता है। कइयों का कथन है कि यदि दो या तीन सप्ताहों मे एक बार स्वप्न-दोष हो जाय, तो

उससे कुछ हानि नहीं होती। कम-से-कम जिस स्वप्न-दोष के पीछे सिर-दर्द, भारीपन आदि न हों, वह मनुष्य-शरीर के लिये स्वाभाविक है, फिर चाहे वह सप्ताह में एक बार हो या दो बार। जिसके पीछे मनुष्य अपने को खोखला-सा, थका हुआ-सा अनुभव करे, वह चाहे महीनों में एक बार ही क्यों न होता हो, अस्वाभाविक है, रोग का सूचक है! दूसरे लोगों का कथन है कि स्वप्न-दोष चाहे किसी प्रकार भी क्यों न हो, जीवन मे चाहे केवल एक बार क्यों न हो, अस्वाभाविक है, रोग का सूचक है, स्वाभाविकता का कभी नहीं, किसी प्रकार भी नहीं!

इन दोनों विचारों मे से पिछला विचार ही ठीक है। प्रकृति में इतनी फ़िज़ूलख़र्ची नहीं हो सकती कि वह जीवन के सार-भाग को इस प्रकार लुटाने लगे। प्राणी का शरीर अटकल से बना हुआ नहीं है। जिन निस्सार पदार्थों की शरीर को आवश्यकता नही होती, उन्हें भी शरीर से निकालने के लिये ख़ास-ख़ास रास्ते बनाये गये ह, ताकि जब चाहें, तब उन्हें शरीर से ख़ारिज कर दे। मलाशय तथा मूत्राशय में मल-मूत्र संचित होता रहता है और प्राणी अपने सुविधानुसार उन्हें निकालता है। यदि कोई बालक बैठा-बैठा बिना जाने पेशाब कर दे, या बिस्तर मे पड़ा-पड़ा अनजाने टट्टी फिर दे, तो हम समझते हैं कि उसे कोई बीमारी है, और अच्छे वैद्य की सलाह लेते हैं। जब मल-मूत्र भी अनजाने नहीं निकलते तो वीर्य-जैसे अमूल्य तत्व का सोते या जागते किसी समय भी अनजाने निकल जाना

क्या कभी स्वाभाविक हो सकता है? मल-मूत्र का तो वेग होता है, इनके वेग को रोकना कठिन होता है, फिर भी इनका यों ही निकल जाना बीमारी है; वीर्य का तो, जब तक मनुष्य अपने को विषय-धारा में बहा न दे, कोई ऐसा वेग ही नहीं होता, फिर इसका यों ही निकल जाना बीमारी नहीं, तो क्या है? असल में यह बात ठीक मालूम पड़ती है कि मृत देह को चीरा-फाड़ी करने वाले जीवित-देह के विषय में कुछ नहीं जानते, नहीं तो किसी डॉक्टर को यह कहने का साहस न होता कि स्वप्न-दोष किसी अवस्था में स्वाभाविक भी है!

प्रश्न हो सकता है कि फिर, कई बार स्वप्न-दोष के बाद सिर-दर्द, भारीपन, थकावट आदि क्यों नहीं होते; यही नहीं, कई लोग तो स्वप्न-दोष के बाद हल्का-सा अनुभव करते हैं, उनकी बेचैनी दूर-सी हुई जान पड़ती है—इन दोनों बातों का क्या कारण है?

शरीर-शास्त्र के प्रत्येक विद्यार्थी को ज्ञात होना चाहिए कि शरीर में एक आश्चर्य-जनक जीविनी-शक्ति है, जो शरीर के प्रत्येक क्षत का और रोग का स्वयं इलाज करती रहती है। औषधियों का काम उस संजीवनी-शक्ति को केवल सहायता पहुँचाना है। हृष्ट-पुष्ट लोगों के शरीर के किसी भाग से रुधिर बहने लगता है, परन्तु उन्हें मालूम नही होता कि चोट कब लगी थी। कभी-कभी तो मनुष्य अपने शरीर पर खुरण्ड देखकर आश्चर्य करने लगता है, क्योंकि उसे मालूम ही नहीं होता

कि यह कभी व्रण के रूप में भी था। शरीर की संजीविनी-शक्ति उसके पता लगने से भी पूर्व उसे ठीक कर छोड़ती है। देर-देर से होनेवाले स्वप्न-दोषों से, जिनका कोई बुरा असर दिखाई नहीं देता, इसी प्रकार की हानि शरीर को पहुँचती है। शरीर की संजीविनी-शक्ति उस थोड़ी-सी हानि की पूर्ति कर देती है और मनुष्य समझने लगता है कि उसे कुछ नुकसान ही नहीं पहुँचा। यह मनुष्य की मूर्खता है। असल बात यह है कि हानि पहुँची, और अवश्य पहुँची, परन्तु विश्व को संहारक शक्तियों पर रचनात्मक शक्तियों ने विजय पाया। वीर्य के एक विन्दु का नाश भी शरीर के लिये हानिकारक है, यद्यपि जब तक यह हानि छोटे रूप में होती है, शरीर की संजीविनी-शक्ति उस हानि की स्वयं पूर्ति कर लेती है। इसलिये स्वप्न-दोष, जिसमें अनजाने वीर्य-नाश हो जाता है, अस्वाभाविक तथा रुग्ण-अवस्था ही है, स्वाभाविक तथा स्वस्थावस्था नहीं!

'स्वप्न-दोष से कई लोग बेचैनी दूर-सी हुई अनुभव करते हैं'—इसका भी खास कारण है। स्वस्थ पुरुष स्वप्न-दोष के बाद कोई शारीरिक हानि अनुभव न करे, यह तो सम्भव है, परन्तु वह इससे 'बेचैनी दूर-सी हुई' अनुभव करे, यह असम्भव है, महाअसम्भव! हाँ, अस्वस्थ पुरुष, ऐसा पुरुष जिसने शारीरिक अथवा मानसिक अपवित्रता से अपने अन्दर काम-भाव उत्तेजित कर लिया हो, जिसने गन्दे विचारों को मन में ला-लाकर स्नायु-तन्तुओं में तनाव उत्पन्न कर लिया हो, जो मनोविकारों से उद्वेलित

हो उठा हो परंतु काम-वासना को पूर्ण न कर सका हो, ऐसा पुरुष ही स्वप्न-दोष से 'बेचैनी दूर-सी हुई' अनुभव कर सकता है। और, ठीक भी है। उसने अपने काम-तन्तुओं को कृत्रिम उपायों से उत्तेजित करके उनमें जो बेचैनी पैदा कर दी है, वह इसी प्रकार तो दूर हो सकती है। जब काम-भाव की गर्मी पैदा कर दी गई, तो उसका निकास भी किसी-न-किसी प्रकार होगा—चाहे जान-बूझकर, चाहे बे-जाने-बूझे, नहीं तो सारा स्नायु-चक्र अस्त-व्यस्त हो जायगा। परन्तु इस प्रकार क्या सचमुच बेचैनी दूर हो जायगी?—कभी नहीं! इस प्रकार कुछ क्षणों के लिये बेचैनी मिटकर दुगुने और तिगुने वेग से उठ खड़ी होगी और कुछ मिनटों के बेचैन और दीवाने को उम्र-भर का बेचैन और उम्र-भर का दीवाना बना देगी, क्योंकि शक्ति-हीनता की बेचैनी सबसे बड़ी बेचैनी है। स्वप्न-दोष से किसी की बेचैनी दूर हो जाती है, समझना, कुछ बेवक़ूफ़ों का चलाया हुआ वहम है—इससे बेचैनी दूर नहीं होती, बढ़ती है!

इसलिये यह मानना चाहिये कि स्वप्न-दोष का शरीर के स्वाभाविक विकास में एक क्षण-भर के लिये भी स्थान नहीं है। स्वप्न-दोष शरीर की रुग्णावस्था है। शायद यह कथन सुनकर कई युवक चौंक उठें और पूछ बैठें—'तो क्या संसार के किसी कोने मे कोई ऐसा पुरुष है, जिसे एक बार भी स्वप्न-दोष न हुआ हो?' इस प्रश्न के उत्तर में यही कहा जा सकता है—'यदि ऐसा पुरुष संसार में है नहीं, तो हो सकता है: और

यदि कोई पुरुष पूर्ण-स्वस्थ है, तो वह ऐसा ही है !" शायद यह उत्तर अत्यन्त संक्षिप्त है, अतः इसे समझाने के लिये आवश्यक है कि पूर्ण-स्वस्थ पुरुष के जीवन के स्वाभाविक विकास का एक ख़ाका खींच दिया जाय, जिससे स्पष्ट हो जाय कि उसके जीवन में स्वप्न-दोष का कोई स्थान है भी या नहीं।

कल्पना करो कि एक सात वर्ष का बालक है जो पैत्रिक कुसंस्कारों से सर्वथा मुक्त है, पवित्र तथा शुद्ध परिस्थितियों में रहता है। वह राजसिक भोजन से बचता, शरीर तथा मनको पवित्र रखता, अच्छे साथियों से मिलता-जुलता और ब्रह्मचर्य के सब नियमों का विधिवत् पालन करता है। ऐसे बालक को, जो वर्तमान सभ्यता के कलुषित सम्पर्क से बचा हुआ है, दस, बीस, पचास, सत्तर या सौ वर्ष—जितनी देर तक भी वह जीवित रहे—एक बार भी स्वप्न-दोष नहीं होगा। प्रकृति की ऐसी ही रचना है, परमेश्वर का ऐसा ही विधान है। इस मार्ग से अणु-मात्र भी विचलित होनेवाले को दैवीय शासन के भंग करने का दण्ड मिलता है। हमारी कल्पना के जगत् का यह बालक आदर्श बालक होगा। वह मनमें कुविचार का बीज तक न पड़ने देगा, और इसलिये १८ वर्ष की आयु में, कुमारावस्था आ जाने पर भी, उसे काम-वासना का अनुभव तक न होगा। उसके शरीर की रचना में इस आयु में वीर्य का 'अन्तःस्राव' ही हो रहा होगा। और यह 'अन्तःस्राव' अन्दर-ही-अन्दर उसके शरीर में खप रहा होगा, उसका शुक्राशय अभी तक ख़ाली ही होगा।

उसे, जानते हुए या अनजाने, किसी प्रकार के वीर्य-स्राव का अनुभव ही नहीं होगा। वह इस घटना से ही अनभिज्ञ होगा। कुमारावस्था के अनन्तर, जब वह पचीस वर्ष के लगभग होने लगेगा, युवक हो जायगा, तब 'वहिःस्राव' स्वयं प्रकट होकर शुक्राशय को भरने लगेगा। पचीस वर्ष की अवस्था में वहिःस्राव का प्रकट होना उसके शरीर के स्वाभाविक विकास का परिणाम होगा, इसके लिये मानसिक उत्तेजना की आवश्यकता न होगी। इस आयु में 'वहिःस्राव' का प्रकट होना ऐसा ही स्वाभाविक होगा, जैसा पकने पर फल का शाखा से टपक पड़ना। अब तक जो शारीरिक वृद्धि हुई, उसका यह अवश्यम्भावी परिणाम होगा। इस स्थल पर यह न भुलाना चाहिये कि 'वहिःस्राव' केवल अन्तःस्राव+शुक्र-कीटाणु का ही नामान्तर है। इन शुक्र-कीटाणुओं में स्वाभाविक गति होती है। यही गति हमारे काल्पनिक पूर्ण-स्वस्थ पुरुष में काम-भाव के उत्पन्न होने का भौतिक कारण होती है। शुक्र-कीटाणुओं की गति भौतिक गति है, काम-भाव मानसिक गति है, दोनों का एक दूसरे के साथ कारण-कार्य का सम्बन्ध स्पष्ट है। जब काम-भाव इस प्रकार उत्पन्न होता है, तब वह स्वाभाविक होता है, बढ़ते हुए शरीर की एक आवश्यक अवस्था का द्योतक होता है, और इसीलिये आदर्श होता है। पचीस वर्ष की आयु के बाद उक्त पुरुष के सामने दो रास्ते खुले हो सकते हैं। यदि वह आजन्म ब्रह्मचर्य का जीवन बिताना चाहता हो, तो उसे 'वहिःस्राव' को शरीर में खपा लेने के रहस्य-मय

मार्ग का, जिसे प्राचीन परिभाषा में 'ऊर्ध्वरेता' का मार्ग कहा जाता था और जिसका अभ्यास ऋषियों के आश्रमों—गुरुकुलों—में किया जाता था, अवलम्बन करना होगा और आदित्य-ब्रह्मचारी के आदर्श को जीवन में घटाना होगा। 'बहिःस्राव' को, अर्थात् शुक्र के उस भाग को, जो शुक्राशय में आ पहुँचा है, शरीर में खपा लेना एक विद्या थी, जिसका अभ्यास कोई विरला ही करता था। 'बहिःस्राव' में एक नवीन प्राणी को उत्पन्न करने की शक्ति है; इसे यदि अपने अन्दर खपाया जा सके, तो इस के द्वारा पुरुष के अपने शरीर तथा मन में भी नवीन शक्ति उत्पन्न हो सकती है। ब्रह्मचर्य का अभिप्राय वीर्य की भौतिक शक्ति को, साधना से, आध्यात्मिक शक्ति के रूप में बदल देना है। प्राणि-जगत् में काम-भाव एक अत्यन्त उग्र, उत्कट शक्ति की धारा है जिसे पशु-पक्षी रूपांतरित नहीं कर सकते, जिससे वे अपने-जैसे दूसरे प्राणी ही उत्पन्न कर सकते हैं। परन्तु मानव-जगत् में इस प्रबल, वेगवती धारा को जहाँ नये प्राणी उत्पन्न करने में लगाया जा सकता है वहाँ, इसकी दिशा बदलकर, इसकी असीम शक्ति के बल से ही, आध्यात्मिक जगत् में प्रवेश किया जा सकता है! नदी का जल-प्रपात जल का वेग ही तो है, परन्तु उसी वेग को रूपान्तरित करके विद्युत् का असीम भण्डार पैदा किया जा सकता है। वीर्य को खर्च न किया जाय, उसे अन्दर-ही-अन्दर खपाया जाय, तो वह भी जल के वेग की तरह रूपान्तरित होकर विद्युत् की-सी शक्तियाँ उत्पन्न कर सकता

है। इस मार्ग के अतिरिक्त दूसरा मार्ग भी पच्चीस वर्ष के बाद खुला है। यदि वह पुरुष, जिसका हम चित्र खींच रहे हैं, आजन्म ब्रह्मचारी नहीं रहना चाहता, तो वह विवाह कर सकता है। इस प्रकार वह अपनी उत्पादक-शक्ति का उपयोग नवीन प्राणी उत्पन्न करने में करेगा। विवाह में भी वह प्राकृतिक जीवन ही व्यतीत करेगा। जिस प्रकार उसमें कामेच्छा प्राकृतिक तौर से उत्पन्न हुई, उसी प्रकार स्त्री-प्रसंग की इच्छा भी उसमें प्रकृति द्वारा ही नियमित होगी। शुक्र-कीटाणुओं की स्वाभाविक गति से उसमें काम-भाव उत्पन्न हुआ; शुक्राशय के पूरा भर जाने से उसमें प्रसंगेच्छा उत्पन्न होगी। उसका शुक्राशय जल्दी-जल्दी न भरेगा। उसने काम-भाव को जगाने के लिये कभी अपने को उत्तेजित करने का तो प्रयत्न किया ही नहीं—कामेच्छा तो उसमें प्रकृति के नियमों के अनुसार शरीर की एक ख़ास अवस्था में ही स्वयं उत्पन्न होती है। क्योंकि वह शुक्रोत्पादक अवयवों को उनकी स्वाभाविक गति से चलने देता है, उन पर अप्राकृतिक दबाव नहीं डालता, इसलिये उसके शरीर में 'अन्तःस्राव' तो होता ही रहता है, परन्तु 'बहिःस्राव' होकर शुक्राशय को भरने में पर्याप्त समय लगता है। प्राणि-शरीर का स्वभाव है कि उसे जिन अवस्थाओं तथा परिस्थितियों में रक्खा जाय, वह उन्हीं के अनुकूल बन जाता है। शुक्रोत्पादक अवयव 'बहिःस्राव' उत्पन्न करते हैं। यदि किसी को इसकी जल्दी-जल्दी आवश्यकता होती है, तो वे भी जल्दी-जल्दी शुक्राशय को भरते रहते हैं; यदि

किसी को देर में आवश्यकता होती है तो वे भी धीरे-धीरे काम करते हैं। स्वाभाविक जीवन व्यतीत करनेवाले आदर्श व्यक्ति के लिये वेद की आज्ञा है कि वह अढ़ाई या तीन साल में एक सन्तान उत्पन्न करे, इसलिये उसके उत्पादक-अंग इस गति से काम करते हैं कि उसके शुक्राशय अढ़ाई साल में या तीन साल से भरते हैं। शुक्राशय के भरने के समय को इच्छा-पूर्वक घटाया या बढ़ाया जा सकता है। जल्दी-जल्दी शुक्राशय के भर जाने का अभिप्राय यह है कि 'वहिःस्राव' वार-वार निकले। 'वहिः-स्राव' जब भी निकलेगा 'अन्तःस्राव' में रुकावट डालकर ही निकलेगा। 'अन्तःस्राव' की रुकावट का अभिप्राय शरीर की वृद्धि का रुकना है। अतः कुचेष्टाओं और कुविचारों से वार-वार शुक्राशय को भरकर ख़राब होने में बहादुरी नहीं, बहादुरी है कुचेष्टाओं तथा कुविचारों की जड़ काटकर 'वहिःस्राव' न होने देने में, और 'अन्तःस्राव' में क्षण भर के लिये भी रुकावट न आने देने में। इस प्रकार काम-भाव को अपने काबू कर लेने का नाम ही गृहस्थी का ब्रह्मचर्य है, और निस्सन्देह यह ब्रह्मचर्य ब्रह्मचारी के ब्रह्मचर्य से भी कठिन है। गृहस्थी के लिये यही योग है, क्योंकि योग 'निरोध' का ही तो दूसरा नाम है। जिस आदर्श व्यक्ति का हमने चित्र खींचा है, उसके समान निरोध करनेवाला दूसरा कौन हो सकता है!

मैं मानता हूँ कि यह चित्र एक आदर्श व्यक्ति का है। क्रियात्मक जगत् में ऐसा व्यक्ति, जिसका आन्तरिक विकास

उक्त रूप से हुआ हो, मिलना असम्भव है। परन्तु यह चित्र जान-बूझकर खींचा गया है। इसका उद्देश्य केवल यह बतलाना है कि मनुष्य के स्वाभाविक विकास में स्वप्न-दोष का कोई स्थान नहीं है। स्वस्थ व्यक्ति के जीवन में वीर्य के निकास का केवल एक ही उपाय है, और वह है जानते हुए निकास; अनजाने निकास का होना अस्वाभाविक तथा रुग्ण अवस्था का सूचक है। यदि पुरुष स्वस्थ रहना चाहे, तो जानते हुए वीर्य का निकास भी केवल गृहस्थ-धर्म में, और वह भी तब, जब प्रकृति की माँग हो, होना चाहिये। अस्वाभाविक, कृत्रिम उपायों से, भावावेशों में आकर ऐसा काम कर बैठना महा-भयंकर पाप है।

परन्तु हमें आदर्श व्यक्तियों से काम नहीं पड़ता। जिन युवकों की जीवन-समस्याओं को हमें हल करना है वे वंशानुगत रोगों से भी मुक्त नहीं होते। भगवान् जाने उनके माता-पिता, दादा-पड़दादा तथा अन्य पूर्वजों ने किन-किन रोगों का संग्रह किया होता है। आज का बालक उन सब पूर्वजों के पापों को गठरी सिर पर लादकर पैदा होता है। पैदा होने के बाद भी उस का पालन-पोषण स्वास्थ्य के नियमों के अनुसार नहीं होता। बालक के पेट को उत्तेजित पदार्थों से भर देने में कोई कसर नहीं उठा रक्खी जाती, उसे गन्दगी में खुला छोड़ दिया जाता है; आचार-भ्रष्ट, पतित साथियों के साथ बे-रोक-टोक खेलने दिया जाता है, ब्रह्मचर्य के एक-एक नियम को गिन-गिन-

कर ख़ूब सावधानी से तोड़ा जाता है। यदि ऐसी राड़ी हुई परिस्थितियों में पलकर बालक १४-१५ वर्ष की आयु में ही स्वप्न-दोष की शिकायत करने लगें तो आश्चर्य की कौन-सी बात है? जिस अस्वाभाविक जीवन में उन्हें रक्खा जाता है उससे उनमें काम की प्रवृत्ति शीघ्र ही जाग उठती है। पूर्ण-स्वस्थ पुरुष के वीर्य-कोश बीस वर्ष की आयु में भी बिल्कुल ख़ाली होते हैं, परन्तु यहाँ छोटे-छोटे बच्चों के वीर्य-कोश, तेरह-चौदह वर्ष की आयु में ही उत्पादक-अंगों के स्राव से भर जाते हैं। यह तो संसार का मोटा-सा नियम है। माँग जल्दी शुरू हो गई—छोटी आयु में ही अण्ड काम करने लगे—'बहिःस्राव' भी जल्दी ही निकलना शुरू हो गया। ज्यों-ज्यों माँग बढ़ता गई, त्यों-त्यों स्राव भी बढ़ता गया। वीर्य-कोश भर कर ख़ाली हुए—फिर भरे, फिर ख़ाली हुए—बस, स्वप्न-दोष का सिलसिला जारी हो गया। सप्ताह में एक बार—दो दिन में एक बार—हर रोज़—और एक रात में कई बार—माँग के पैदा होने और पूरा होने का चक्र इस भयंकर वेग से चलने लगता है! यह 'बहिःस्राव' जितना बढ़ता है, उतना ही 'अन्तःस्राव' घटता है, क्योंकि बालक में तो 'अन्तःस्राव' ही 'बहिःस्राव' के रूप में प्रकट होता है, और बड़ी उम्र में 'अन्तःस्राव'+'शुक्र-कीटाणुओं' का नाम ही 'बहिःस्राव' है। 'अन्तःस्राव' के सूख जाने से जो हानियाँ होती हैं, वे स्वप्न-दोष के रोगी के चेहरे पर झलकने लगती हैं।

यह सब स्वीकार करते हैं कि वर्तमान सभ्यता की सन्तान प्रायः सभी अस्वस्थ है। आदर्श, पूर्ण-स्वस्थ व्यक्ति से हम लोग कोसों की दूरी पर खड़े हैं—लक्ष्य से अत्यन्त अधिक विचलित हुए पड़े हैं! ऐसी अवस्थाओं में साधारण रूप से स्वस्थ कहे जानेवाले व्यक्ति के लिये क्रियात्मक सलाह यही दी जा सकती है: "जब रात को अनजाने स्वप्न में बहुत बार वीर्य-नाश होने लगे तो उससे भारी हानि पहुँचती है। यदि दो या तीन सप्ताह में एक बार ही हो, और ऐसा होने पर कमज़ोरी के लक्षण न दिखाई देते हों, तो ज्यादा चिन्ता करने की जरूरत नहीं। परन्तु यदि सप्ताह में दो बार या इससे अधिक बार स्वप्न-दोष होने लगे, तो उसे रोकने के लिये अवश्य हाथ-पैर मारने चाहिये, नहीं तो इसका परिणाम स्नायु-शक्ति के लिये अत्यन्त घातक होगा। रोगी कमज़ोर तथा चिड़-चिड़ा हो जायगा, उसका स्वास्थ्य नष्ट-भ्रष्ट हो जायगा।" यह सब कुछ होते हुए भी यह कभी नहीं भूलना चाहिये कि स्वप्न-दोष चाहे कितनी देर के बाद ही क्यों न हो, सदा शरीर की अस्वाभाविक अवस्था का ही सूचक है, स्वाभाविक का कभी नहीं।

स्वप्न-दोष कैसे होता है? पहले-पहल उत्तेजना होती है, फिर कोई कामुकता का स्वप्न आता है, उसी स्वप्न में वीर्य-स्राव हो जाता है। वीर्य-स्राव होते ही एकदम आँखें खुल जाती हैं, आत्म-ग्लानि, असमर्थता, लज्जा और निस्सारता के भाव चारों तरफ़ से घेर लेते हैं। स्वप्न-दोष के बाद चित्त-वृत्ति का यही

मनोवैज्ञानिक विश्लेषण है। कभी स्वप्न से उत्तेजना हो जाती है, कभी उत्तेजना से बुरा स्वप्न आने लगता है। उत्तेजना तथा स्वप्न दोनों वीर्य-स्राव से पहले होते हैं। यदि वीर्य-स्राव न हो, तो कोई ज्यादा हानि नहीं होती। परंतु यदि बुरे स्वप्न बढ़ने लगें, तो अन्त में स्वप्न-दोष भी होकर ही रहता है, और यदि स्वप्न-दोष बढ़ने लगें, तब तो नाजुक हालत आ पहुँचती है। बढ़ते-बढ़ते ऐसी अवस्था भी आ जाती है, जब बिना उत्तेजना के ही वीर्य-स्राव होने लगता है—बुरा विचार मन में आते ही स्वप्न-दोष हो जाता है, उत्तेजना होने भी नहीं पाती! बार-बार उत्तेजना होने का भयंकर परिणाम उत्तेजना का मिट जाना होता है! बस, इसी का नाम नपुंसकता है! परन्तु इतने पर भी बस नहीं होता। स्वप्न-दोष के रोगी के सम्मुख इससे भी भयंकर अवस्था आने-वाली होती है। अब अनजाने, रात को स्वप्न में ही नहीं परन्तु जागते हुए दिन को भी, उसका वीर्य स्खलित होने लगता है, और वह बेचारा जीवन से निराश होकर दुःख की सिसकियाँ भरता हुआ अपनी आत्मा से पूछता है—'क्या मेरे मरने का कोई उपाय नहीं?'

पहले-पहल स्वप्न-दोष का अनुभव कर बालक किंकर्तव्य-विमूढ़-सा हो जाता है। वह ज्यों-ज्यों इसे रोकने की कोशिश करता है, त्यों-त्यों इसे बढ़ते देखकर तो बहुत ही घबरा जाता है। जब इसके कारण उसे अपने अंदर कमजोरी के चिह्न झलकते दिखाई देने लगते हैं, तब तो उसकी चिन्ता चरम सीमा

तक पहुँच जाती है। यदि बालक स्वभाव से धार्मिक प्रवृत्ति का है और समझता है कि उसने जानते-बूझते कोई ऐसा काम नहीं किया, जिससे उसे स्वप्न-दोष की शिकायत हो, तब तो उसकी चिन्ता सीमा को भी लाँघ जाती है। वह निस्सहाय अवस्था में चिल्ला पड़ता है—'मेरी साधनाओं का क्या फल, मेरे उपवासों का क्या फायदा ?' परन्तु उसे निराश होकर हिम्मत हार देने की अपेक्षा शिकायत के कारण का अनुसन्धान करना चाहिये। स्वास्थ्य के छोटे-छोटे नियमों के उल्लंघन से कई विषम समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं। इसलिये, हम यहाँ स्वप्न-दोष के कारणों तथा उसकी चिकित्सा पर कुछ विचार करेंगे।

कारण तथा चिकित्सा

जैसा पहले कई बार दोहराया जा चुका है, अनजाने वीर्य का नाश हो जाना रोग की अवस्था का सूचक है। पूर्ण-स्वस्थ पुरुष में कुमारावस्था के आने पर भी वीर्य-कोश खाली ही रहने चाहियें, क्योंकि उस समय शारीरिक तथा मानसिक विकास के लिये अन्तःस्राव की अत्यन्त आवश्यकता होती है। परन्तु क्योंकि हम अस्वाभाविक अवस्थाओं मे जीवन यापन कर रहे हैं, इसलिये आजकल बालकों में काम-भाव की जागृति बहुत छोटी आयु में हो जाती है, फलतः उनके वीर्य-कोश में छोटी आयु में ही वीर्य संचित होने लगता है, और छोटी आयु में ही वह नष्ट भी होने लगता है। यद्यपि वीर्य-नाश के भौतिक तथा मानसिक कारणों को

पृथक्-पृथक् कर सकना असम्भव है तथापि विचार को सुगमता के लिये हम इन दोनों पर पृथक्-पृथक् ही विचार करेंगे, और कारणों के साथ-साथ चिकित्सा पर भी विचार करते जायेंगे। स्वप्न-दोष के भौतिक कारण ये हैं—

भौतिक कारण तथा चिकित्सा

(१) भोजन—कई लोग 'खाने के लिये जीते' हैं; जो सामने आया, वही पेट में ठूँस लेते हैं, क्षुधा-निवृत्ति के लिये नहीं, परन्तु जिह्वा के रस के लिये हर समय मुँह चलाते रहते हैं। जो खाया जाय, वह यदि सब पच जाय, तो कोई बुराई नहीं, परन्तु ऐसा होता नहीं, भूख से ज्यादा खाया ही जाता है। भोजन का जो भाग नहीं पचता, वह पेट में सड़ने लगता है और सम्पूर्ण पाचन-प्रणाली में उथल-पुथल मचा देता है। पाचन-प्रणाली तथा जनन-प्रणाली का आपस में गहरा सम्बन्ध है; जब पहली में सड़ाँद पैदा होकर जलन उत्पन्न होती है, तब दूसरी उसके असर से बची नहीं रह सकती। जब यह जलन जनन-प्रणाली में होती है, तो उससे उत्तेजना होने लगती है, मनुष्य की मानसिक अवस्था बिगड़ जाती है। इस जलन से ही सोते-सोते स्वप्न-दोष हो जाता है। अपचन से जनन-प्रणाली की जो दुरवस्था जरा लम्बे रास्ते से होती है, वही मिर्च, मसाले, अचार, मिठाई, चाय, काफ़ी आदि से सीधी होती है। इनका असर सीधे तौर से उत्पादक अंगों पर पड़ता है। इनके

खाने से कोई लाभ भी नहीं होता—केवल जिह्वा का एक प्रलोभन है। सायंकाल बिजली की रोशनी में सजी हुई बाजार की मिठाइयों के ढेर को देखकर किस शौकीन की जीभ से लार नहीं टपक पड़ती। फौरन जेब से पैसे निकल पड़ते हैं—सैकड़ों मक्खियों की सूक्ष्म विष्ठाओं से भरा हुआ दुष्पच शक्कर का ढेला पेट में पहुँच जाता है, ऊपर से सोडे की एक बोतल या चाय का एक प्याला गटक लिया जाता है। उस विहंगम से पूछो—'क्या तुझे भूख लगी थी ?' वह कहेगा—'नहीं, भूख तो नहीं लगी थी, परन्तु वह ऐसे नजारे को देखकर रुक नहीं सका।' क्या कोई सोच सकता है कि इस प्रकार उच्छृंखल फिरते हुए युवक को प्रकृति क्षमा कर देगी ? नहीं—कदापि नहीं !

इसलिये स्वप्न-दोष से बचने के लिये सबसे पहली बात है भोजन पर ध्यान देना। दिन में दो बार, नियमित समयों पर, परिमित सात्त्विक भोजन करना सबको सीखना चाहिये। 'खाने के लिये जीने' के स्थान पर 'जीने के लिये खाना' चाहिये। जिह्वा से पूछने के स्थान पर खाने से पहले पेट की सलाह लेनी चाहिये। इस प्रकरण में जान-बूझकर मांस तथा शराब का जिक्र नहीं किया गया, क्योंकि मैं समझता हूँ कि इस पुस्तक के पढ़नेवाले इन घृणित पदार्थों को ब्रह्मचर्य-जैसे पवित्र विचार के साथ जोड़ने की मूर्खता कभी नहीं करेंगे।

(२) मूत्राशय तथा मलाशय का भरा होना—हमारा जीवन ऐसी अस्वाभाविक परिस्थितियों में बीतता है, जिनसे छोटी

यु में ही शुक्र-कोश में वीर्य सञ्चित होने लगता है। शुक्र-कोश के आमने-सामने मूत्राशय तथा मलाशय हैं, जिन दोनों के भर जाने से शुक्र-कोश पर दबाव पड़ने लगता है। यदि सोने से पहले ज्यादा खा-पी लिया जाय, तो रात में मूत्राशय तथा मलाशय के भर जाने के कारण शुक्र-कोश पर दबाव पड़कर उत्तेजना हो जाने की सम्भावना होती है। कभी-कभी शौच के समय ज्यादा दबाव पड़ने से भी उत्तेजना हो जाती है। इसी कारण कब्ज से भी कभी-कभी यही दोष हो जाता है।

स्वप्न-दोष के रोगी को या तो सायंकाल का भोजन त्याग देना चाहिये, अन्यथा अल्पाहार करना चाहिये। कई बालक सोने से पहले पानी या दूध पी लेते हैं, यह छोटी-सी बात ही कई बार स्वप्न-दोष का कारण हो जाती है। सोने से पूर्व पानी या दूध पीना छोड़ देने के छोटे-से संयम से कई बार बालकों को बड़ी-बड़ी चिन्ताएँ दूर हो सकती हैं। सोने से पहले लघुशंका कर लेना बहुत अच्छा है। बीमारी बढ़ गई हो, तो पेट साफ करके सोना चाहिये। रात में एक बार उठकर पेशाब कर लेना और भी अधिक उपयोगी है। सीधे लेटकर या छाती पर हाथ रखकर सोने से भी कई बार उपद्रव खड़े हो जाते हैं। पीठ के पीछे कपड़े की गाँठ बाँध लें, तो सीधे लेटने से बचा जा सकता है।

(२) गन्दगी, खुजली और जलन—कभी-कभी मूत्राशय में गन्दे पदार्थ इकट्ठे होकर उसमें जलन पैदा कर देते हैं। यह जलन मूत्र-प्रणाली में से होती हुई शुक्र-कोश तक पहुँच

जाती है, जिससे स्वप्न-दोष होने लगता है। सात्त्विक भोजन तथा चिरायता आदि रक्त-शोधक औषधियों के सेवन से मूत्र के जलन उत्पन्न करनेवाले पदार्थ को दूर किया जा सकता है। कभी-कभी उत्पादक अंगों में मैल इकट्ठा होता रहता है, जिससे खुजली और जलन दोनों उत्पन्न हो जाते है। इनका परिणाम हस्त-मैथुन तथा स्वप्न-दोष दोनों हो सकते हैं, अतः सदा इन अंगों की सफ़ाई रखनी चाहिये। पेशाब की, तथा जननेन्द्रिय की घातक बीमारियों से भी स्वप्न-दोष हो जाता है।

(४) हस्त-मैथुन तथा अति मैथुन—यह एक मनोवैज्ञानिक सिद्धांत है कि जिन कामों को जानते-बूझते बार-बार किया जाता है वे मनुष्य की अन्तरात्मा का भाग बन जाते हैं, और फिर, धीरे-धीरे, उनके करने में इच्छा-शक्ति के लगाने की आवश्यकता ही नहीं रहती। तभी तो अनजाने स्वप्न-दोष हो जाता है। यह स्वप्न-दोष, जो अनजाने सोते हुए होता है, कभी-कभी हस्त-मैथुन तथा अतिमैथुन का ही परिणाम होता है। मेकफ़ेडन महोदय अपनी पुस्तक 'एनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ फ़िज़िकल कल्चर' में लिखते हैं—'यदि कोई व्यक्ति जिसे हस्त-मैथुन की लत पड़ चुकी हो, एकदम इस आदत को छोड़ दे, तो उसे कुछ देर तक स्वप्न-दोष होने लगेंगे। उसका शरीर जबर्दस्ती वीर्य-स्राव का आदी हो चुका है। इसी प्रकार जिन्हें विवाहितावस्था में अत्यधिक विषय-भोग की लत-सी पड़ जाती है, वे भी यदि इकले हो जायँ, तो कुछ दिनों तक स्वप्न-दोष के शिकार रहते हैं। शरीर

को नई परिस्थितियों के अनुसार अपने को ढालने में कुछ देर लग ही जाती है।' अतः स्वप्न-दोष से बचने के लिये यह पहले आवश्यक है कि रोगी मनुष्य का सर्वनाश कर देनेवाली हस्त-मैथुन तथा अतिमैथुन की आदतों से भी बचे।

कभी-कभी जागते समय की अतृप्त अथवा दबा दी गई कामेच्छा सोते समय अपना मार्ग बना लेती है। नवयुवकों को यह बात सदा के लिये गाँठ बाँध रखनी चाहिये कि ऐसी कामेच्छा जिसे जगा दिया हो, मनुष्य के स्नायु-तन्तुओं को ऐसा धक्का पहुँचाती है, जो हस्त-मैथुन तथा अतिमैथुन से भी अधिक घातक सिद्ध होता है। वह अतृप्त कामेच्छा मस्तिष्क में एक बार प्रविष्ट होकर स्नायु-तन्तुओं में घोर संग्राम मचा देती है। अतः ऐसी इच्छा को उत्पन्न ही न होने देना बुद्धिमत्ता है।

जिन्हें जागते समय हस्त-मैथुन की आदत होती है, वे सोते समय भी इससे नहीं बचते। डॉ० एलबर्ट मौल 'सैक्सुअल लाइफ़ ऑफ़ ए चाइल्ड' में लिखते हैं—'सोते-सोते बच्चे हाथ से जननेन्द्रिय का अनजाने संचालन करने लगते हैं। कई स्पष्ट उदाहरण इस प्रकार के सामने आये हैं, जिनमें निश्चय हो गया कि व्यक्ति जाग नहीं रहा, सो रहा है, और सोते हुए अनजाने हस्त-मैथुन कर रहा है। मैंने कई बार सारी रात जागकर कई बच्चों का निरीक्षण किया है और मैं इसी परिणाम पर पहुँचा हूँ कि कई बार सोता हुआ बालक हाथों को गुह्य-अंगों की तरफ ले जाता है।'—जिन बच्चों को सोते हुए अपने हाथों को गुह्य-अंगों को

तरफ़ ले जाने की आदत पड़ गई हो उन्हें इस व्याधि से बचाने के लिये जहाँ जागृतावस्था में हस्त-मैथुन से बचाना चाहिये, वहाँ सोते हुए उनके हाथों को एक ख़ास दिशा में बाँध रखना चाहिये, जिससे वे नीचे को न जा सकें।

(५) कमज़ोरी—कभी-कभी स्तम्भन-शक्ति के न होने से भी स्वप्न-दोष हो जाता है। उचित व्यायाम से ही कमजोरी दूर हो सकती है। संसार की सारी दवाइयाँ मिलकर उसका आधा भी गुण नहीं कर सकतीं, जितना ब्रह्मचर्य के अनुसार सादा जीवन कर सकता है। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के विषय में उनकी वैयक्तिक कठिनाइयों तथा जीवन-घटनाओं को जान कर ही कुछ कहा जा सकता है। फिर भी लोगों का दवाइयों पर विश्वास है ही। इसलिये साधारण तौर पर यहाँ कुछ दवाइयों का उल्लेख किया जाता है, जो ब्रह्मचर्य में सहायक हो सकती हैं—

i. वट का ताज़ा दूध, १६ बूँद, एक महीने तक बतासे में डालकर प्रातःकाल ख़ाली पेट नियम-पूर्वक खाना।

ii. सफ़ेद मुसली, कबाब चीनी, गिलोय का सत—तीनों को समान भाग लेकर चूर्ण बना लेना। आँवलों को पानी में भिगो-कर, छानकर, औषधि की ६ रत्ती मात्रा तीन-चार चम्मच उस पानी के साथ प्रातःकाल लेना।

iii. दूर्वा घास, मौलसरी के फलों की गुठली, आँवला, कपूर—इन्हें समभाग लेकर पुराने गुड़ के साथ मिलाकर छोटे बेर

के समान गोलियाँ बना ले और सोने से पहले ठण्डे जल के साथ एक गोली खा ले।

iv. सफेद मुसली १२ रत्ती, जायफल ४ रत्ती, आँवला १२ रत्ती—इनको मक्खन तथा मिस्री के साथ मिलाकर खाये।

v. कीकर की गोंद २ तोला, रूमीमस्तगी १ तोला, आँवला २ तोला, कपूर ३ माशा—इन्हें घीक्वार के रस में मर्दन करके धूप में सुखा ले। फिर घीक्वार के रस में मर्दन करके सुखाये। दो-तीन बार ऐसा करके चूर्ण करके रख ले। प्रातः-काल १॥ माशा मक्खन और मिस्री के साथ सेवन करे।

vi. होम्योपैथी का 'ऐसिड फॉस' २०० की एक मात्रा एक बार लेकर देखे कि सप्ताह भर में क्या असर हुआ। सप्ताह से पूर्व मात्रा को न दोहराये। 'एसिड फॉस' १८ शक्ति उपयोगी है।

मानसिक कारण तथा चिकित्सा

स्वप्न-दोष के जिन भौतिक कारणों का उल्लेख किया जा चुका है, उनके अतिरिक्त इसके मानसिक कारण भी हैं। थके हुए आदमी को स्वप्न नहीं सताते। सोने से पहले ख़ूब व्यायाम करके जो लोग थककर सोते हैं, उन्हें स्वप्न-दोष नहीं होता, क्योंकि उन्हें स्वप्न ही नहीं आता। स्वप्न-रहित निद्रा का ला सकना स्वप्न-दोष का सबसे बढ़िया इलाज है। हम प्रायः यूँ ही बिस्तर पर लेट जाते हैं, चाहे नींद आ रही हो, या न आ रही हो, और यदि नींद उचट गई हो, तो भी यूँ ही पड़े-पड़े करवटें बदलते रहते हैं। जीवन के वे क्षण विरले होते हैं, जब हमें

गाढ़ निद्रा आती हो ! बहुत-सा समय तो बिस्तर में पड़े-पड़े ही गुज़र जाता है। मध्य-रात्रि के समय प्रगाढ़ निद्रा आती है, उस समय स्वप्न भी नहीं आते। यदि कोई तभी तक सोए जब तक गाढ़ी नींद आती हो, और नींद टूट जाने पर बिस्तर छोड़ उठ बैठे, तो उसे स्वप्न-दोष का डर नहीं रहेगा। ख़ूब व्यायाम करके, शरीर को थकाकर, बिस्तर पर पाँव रक्खो, और नींद टूटते ही उसे छोड़ अलग हो जाओ। गाढ़ी नींद आने से पहले और पीछे दो अवसर हैं, जिनकी ताक में शैतान हर समय आँख लगाये बैठा रहता है। उस समय मनुष्य न जाग ही रहा होता है, न सो ही रहा होता है, न उस समय वह अपने क़ाबू में ही होता है। ऐसी अवस्था में ही पैशाचिक भाव चोरी से मन में प्रविष्ट होते हैं—प्रविष्ट क्या होते हैं, मन में जाग जाते हैं। बस, उस समय स्वप्न आने लगते हैं—भयंकर स्वप्न—कामुकता के स्वप्न—उत्तेजना-पूर्ण स्वप्न—चिन्ता-पूर्ण स्वप्न—और उन स्वप्नों के साथ ही आत्म-ग्लानि उत्पन्न करनेवाले स्वप्न-दोष !

मनुष्य का मन, यदि जाग रहा हो तो, ख़ाली नहीं रह सकता। वह कुछ-न-कुछ अवश्य करेगा। बिना नींद के बिस्तर पर पड़ जाने का क्या परिणाम होगा ? नींद तो आयी नहीं; पड़े हुए कुछ काम भी नहीं, परन्तु मन को कुछ काम ज़रूर चाहिये ! बस, मन सपने लेने शुरू करता है। सब स्वप्नों से मनुष्य को हानि नहीं पहुँचती। कई स्वप्न तो बड़े मज़ेदार होते हैं। कई स्वप्नों से भविष्य की छिपी कोठरी की झाँकी भी मिल

जाती है। परन्तु उन स्वप्नों से हमें यहाँ मतलब नहीं। हमें तो उन्हीं स्वप्नों से मतलब है, जो स्वप्न-दोष का कारण होते हैं। ऐसे स्वप्न दो प्रकार के होते हैं—कामुकता के स्वप्न, और चिंता उत्पन्न करनेवाले स्वप्न।

(१) कामुकता के स्वप्न—ऐसे स्वप्न मन की आधी जागती, आधी सोती अवस्था में आते हैं। ऐसी अवस्था दिन मे भी आती है, रात में भी। दिन में मनुष्य कुर्सी पर पड़ा-पड़ा ऊँघा करता है, और यह ऊँघना स्वप्नमय होता है; रात को बिस्तर पर लेटे-लेटे कामुकता के विचारों में खेलने लगता है। दिन को तो ये स्वप्न प्रायः लगातार चलते हैं, रात को टूट-टूटकर आते हैं। लगातार चलनेवाले स्वप्न एक दिन एक जगह समाप्त होकर अगले दिन फिर आगे चल पड़ते हैं। स्वप्न लेनेवाले के ध्यान में कोई प्रेमी होता है, उसी को लक्ष्य में रखकर स्वप्न चलता रहता है। प्रतिदिन वीर्य-स्राव अथवा अन्य किसी आकस्मिक घटना से यह ऊँघ टूटती है। असम्बद्ध-से, टूटे हुए-से, और अचानक उपज जानेवाले स्वप्न भी दिन को आते हैं, परंतु प्रायः वे रात को ज़्यादा आते हैं। रात को सोते हुए अचानक ही कोई स्वप्न आने लगता है, और स्वप्न-दोष होते भी देर नहीं लगती। स्वप्न का मसाला मन को जागती अवस्था से ही मिलता है। जो विचार तथा अनुभव दिन को हुए होते हैं, वे ही नया-नया रूप धारण कर सोते समय मनुष्य के सामने आ खड़े होते हैं। इन स्वप्नों का आधार प्रायः जागृतावस्था में ही मिल जाता है।

(२) चिन्ता उत्पन्न करनेवाले स्वप्न—चिन्ता का अभिप्राय है बेचैनी, और बेचैनी से सारा स्नायु-समुदाय तना रहता है। यह समझना कि कामुकता के गन्दे स्वप्नों से ही स्वप्न-दोष हो सकता है, भूल है। चिन्ता-ग्रस्त रहने से प्रायः स्वप्न-दोष हो जाता है, और इसका स्वास्थ्य पर अत्यन्त बुरा असर होता है, क्योंकि चिन्ता से एक तरफ़ स्नायु-मण्डल का ह्रास होता है, और वीर्य-नाश से दूसरी तरफ़ जीवनी-शक्ति का ह्रास होता है। डॉ० मौल का कथन है—'चिन्ता से तो स्वप्न-दोष होता ही है, परन्तु कई बार स्वप्न में भी कोई चिन्ता-जनक स्वप्न आने लगे, तो उससे भी स्वप्न-दोष की आशंका हो जाती है। कई बार ऐसा स्वप्न आने लगता है कि डाकू या हिंस्र पशु पीछा कर रहे हैं, और जब भय का भाव चारों तरफ़ से आक्रान्त कर लेता है, तो स्वप्न-दोष हो जाता है। कई बार स्वप्न में गाड़ी पकड़ने लगते हैं, और स्टेशन पर पहुँचते ही गाड़ी छूट जाती है, इससे भी स्वप्न-दोष हो जाता है।' अभिप्राय यह है कि किसी प्रकार के भी स्नायु-मण्डल के तनाव से स्वप्न-दोष हो सकता है। बहुत खाने से, न खाने से, बहुत थक जाने से, बिल्कुल हाथ-पैर न हिलाने से, काम से, क्रोध से, लोभ से, मोह से, भय से, चिन्ता से—इन सबकी अति से स्नायु-समुदाय तन जाता है और उसका परिणाम स्वप्न-दोष हो जाता है।

इस प्रकार के मानसिक कारणों से स्वप्न-दोष का शरीर पर अत्यन्त घातक परिणाम होता है। डॉक्टर फ़ुट लिखते हैं—

"पुरुषों तथा स्त्रियों, दोनों को, स्वप्न-दोष होता है और दोनों को ही इससे अत्यन्त हानि पहुँचती है। यद्यपि स्त्री का स्वप्न-दोष में वीर्य-जैसा कोई तत्त्व सूचित नहीं होता तथापि उसकी स्नायु-शक्ति का भारी ह्रास होता है। कामुकता का स्वप्न एक प्रकार का अनजाने हस्त-मैथुन ही है। कहा जाता है कि कोई व्यायाम इतना थकानेवाला नहीं, जितना शून्य में हाथ चलाना या शून्य में पाँव मारना। सीढ़ियों के नीचे उतरते हुए यदि मालूम न हो कि एक डण्डा और नीचे उतरना है, तो पाँव नीचे ले जाते ही शरीर को कितना धक्का पहुँचता है—यदि पहले ही मालूम होता कि नीचे डण्डा नहीं है, तो पाँव उसके लिये तैयार होकर नीचे जाता और जरा-सा भी धक्का न लगता। शरीर के लिये जैसे यह धक्का है, स्नायु-मण्डल के लिये वैसे ही कामुकता का स्वप्न है। शरीर के अंग-अंग में से स्नायु-शक्ति एकत्र होकर बड़े वेग से एक ऐसे व्यक्ति के आलिंगन में लगती है, जिसकी सत्ता ही नहीं! वह शक्ति स्वप्न-दोष के रूप में निकल जाती है, परन्तु उसकी प्रतीकारक शक्ति दूसरे व्यक्ति की तरफ से नहीं मिलती, क्योंकि उसकी सत्ता तो काल्पनिक ही है! स्नायु-शक्ति का यह ह्रास, और स्नायु-शक्ति का यह धक्का, ऐसा भयंकर होता है, जो यदि कई बार दोहराया जाता रहे, तो मनुष्य को सर्वथा शक्ति-हीन बना दे, स्मृति-शक्ति का सर्वनाश कर दे और मानसिक शक्ति को कमज़ोर बना दे।"

यदि जागते हुए काम-भाव के विचारों को मन में स्थान दिया जायगा तो सोते समय वे अवश्य मन को घेरे रहेंगे। कल्पना के सम्पर्क से उनकी घातक शक्ति भी बहुत बढ़ जायगी, क्योंकि वह तो विचार रूपी कुण्ठित-कुठार पर धार लगा देती है। जागते हुए मुख से निकला हुआ एक भी अश्लील शब्द स्वप्नावस्था में अनेक अपवित्र स्मृतियों को जगा सकता है। इसलिये जागृतावस्था में ही अधिक सावधान रहने की ज़रूरत है। जो लोग जागते समय मन को गढ़ों में नहीं गिरने देते, वे सोते समय भी बचे रहते हैं। गन्दे उपन्यास पढ़ने से, पतित साथियों के साथ मिलने-जुलने से, ख़ाली रहने से, मन को स्वप्नावस्था के लिये काफी गन्दा मसाला मिल जाता है। ऐसे मसाले को पाकर फिर मन उसे छोड़ना भी नहीं चाहता। जो कामुकता के स्वप्नों से बचना चाहे, वह यदि दिन के समय अपनी विचार-शृंखला पर ध्यान देता रहे, बुरे विचारों को मन में न आने दे, तो रात को स्वयं बचा रहेगा। परन्तु विचारों को कामुकता की तरफ़ से बचा लेना ही पर्याप्त नहीं है—विचारों का सशक्त होना उससे भी ज्यादा आवश्यक है। कई लोग, जो काम-स्वप्नों से भयभीत रहते हैं, घबरा उठते हैं, वे जितना बचने की कोशिश करते हैं, उतना ही इसके शिकार होते जाते हैं। इसका कारण मुख्यतः उनका भय ही होता है। भय विचार-शक्ति को सशक्त होने के स्थान पर अशक्त बना देता है। विचार-शक्ति को दुर्बल कभी न होने देना चाहिये। स्वप्न-दोष होना बुरा है, परन्तु उन्हें देखकर घबरा

उठना और भी बुरा है। घबराने से उनकी संख्या घटने के स्थान पर बढ़ती है। ऐसे व्यक्तियों को मोलिनोस के निम्न शब्द जिन्हें विलियम जेम्स महोदय ने 'वेराइटीज़ ऑफ़् रिलिजियस एक्सपीरियन्स' में उद्धृत किया है, सदा स्मरण रखने चाहियें—

"यदि तुझ से कोई अपराध हो जाय, चाहे वह कैसा ही क्यों न हो, तो उसे सोच-सोचकर दुःखी मत हुआ कर। अपराध तो मनुष्य से हुआ ही करते हैं। क्योंकि तू एक-दो बार गिर गया है इसका यह अभिप्राय नहीं कि तू सदा गिरता ही चला जायगा, ईश्वर की तरफ़ से सदा दुत्कारा ही जायगा। ऐ अमृत-पुत्र! आँखें खोल, और अपनी गिरावट के विचारों पर पर्दा डाल-कर ईश्वर की दया पर भरोसा रख। क्या वह बेवकूफ़ न होगा जो किसी सान्मुख्य में तेज़ दौड़ता हुआ यदि बीच में गिर पड़े तो बैठकर अपने गिरने पर ही अश्रु-धारा बहाने लगे? बुद्धिमान् लोग उसे यही कहेंगे, ऐ खिलाड़ी! समय मत खो, उठ,—उठ-कर फिर भागना शुरू कर, क्योंकि जो गिरकर उठ खड़ा होता और फिर फौरन् भागने लगता है, वह तो ऐसा है मानो कभी गिरा ही न हो। तू एक बार क्या, हज़ारों बार भी क्यों न गिर जाय, घबरा कभी मत; जो औषध तुझे दी है, इसे गाँठ बाँधे रख, ईश्वर पर भरोसा कर। इस शस्त्र से तू कई अखाड़े मार लेगा और दिल की कमज़ोरी पर विजय प्राप्त करेगा।"

अपनी कमज़ोरियों को ही सदा मत सोचते रहो। संकल्प को दृढ़ तथा सशक्त बनाओ। बुरी परिस्थितियों से बचो। सोने

से पहले अच्छे भजन गाओ, वेद-मन्त्र पढ़ो, उत्तम पुस्तकों का पाठ करो। देखोगे कि बुरे स्वप्नों की जगह अच्छे स्वप्न आने लगते हैं। स्वप्नों की समस्या से निकलने का इससे उत्तम दूसरा उपाय क्या हो सकता है। इस अध्याय को समाप्त करने से पूर्व मैं डॉ० कोवन की निम्न-लिखित सलाह के उद्धृत करने के प्रलोभन का संवरण नहीं कर सकता। वे लिखते हैं—

"प्रत्येक व्यक्ति, जिसने अपनी इच्छा-शक्ति का सर्वथा संहार नहीं कर दिया, कम-से-कम जागृतावस्था में अपने विचारों को अच्छी प्रकार वश में कर सकता है, उन्हें पवित्र रख सकता है। यदि वह गिरता है, पाप करता है, तो जानते-बूझते! जिस प्रकार वह जागते हुए अपने विचारों को पवित्र रख सकता है, उसी प्रकार सोते हुए भी रख सकना कठिन नहीं है। साथ ही प्रत्येक का कर्तव्य है कि सोते-जागते सदा विचारों को पवित्र रक्खे। लोग कहते हैं कि वे स्वप्नों को वश में नहीं कर सकते। यह बात भ्रम-मूलक है। मनुष्य के मन में जागते हुए जो विचार आते हैं, उनका स्वप्नों से अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। जागती हालत में जिन्हें 'विचार' कहते हैं, सोती हालत में उन्हीं को 'स्वप्न' कहते हैं। अतः यह स्वाभाविक है कि यदि मनुष्य ने जागृतावस्था में अपने विचारों को अश्लीलता तथा अपवित्रता की तरफ़ जाने दिया है, तो रात को भी मन वैसे ही विचारों से भर जाता है—स्वप्नावस्था के विचार तो जागृतावस्था के विचारों के फल हैं—और इसीलिये यदि दिन का समय गन्दे विचारों में

वीता हो, कामोद्दीपन हो चुका हो, तो रात को स्वप्न-दोष हो ही जाता है। यदि जागते हुए हमने कुवासनाओं को अपने पास न आने देने के लिये इच्छा-शक्ति का कोई उपयोग नहीं किया, तो हम कैसे आशा कर सकते हैं कि सोते समय जब पैशाचिक भाव आ घेरेंगे, तब हृदय से 'नकार' निकल पड़ेगी ? इच्छा-शक्ति सोते समय हमें गिरने से उतना ही बचा सकती है, जितना वह हमें जागते समय बचा चुकी है—उससे ज्यादा नहीं। एक उच्चस्थिति का इटैलियन, जिसे स्वप्न-दोष से बहुत परेशानी हो चुकी था, लिखता है कि जब और कोई चारा न रहा, तो अन्त में उसने दृढ़ संकल्प कर लिया कि आगे से जब भी कोई अपवित्र विचार उसके मन में प्रविष्ट होने लगेगा, वह जाग जायगा। इस आदत का उसने दिन को खूब अभ्यास किया। जब कभी कोई अश्लील विचार उसके मन में आने लगता, वह एकदम चौंक उठता। सोने से पूर्व वह यही विचार कई बार दोहराकर सोता, सारी संकल्प-शक्ति इसी विचार में लगा देता। इसका बड़ा उत्तम परिणाम निकला। 'बुरा विचार एक बड़ा भारी ख़तरा है'—यह भावना उसके हृदय में इतना घर कर गई कि सोते समय भी वह उसकी चेतना का अंग बनी रहती और मन के ज़रा-सा इधर-उधर भटकते ही वह उठ बैठता। इस अभ्यास से उसे बहुत लाभ पहुँचा और स्वप्न-दोष से वह सर्वथा बच गया।"

एकादश अध्याय

'ब्रह्मचर्य'

[वीर्य क्या है ?—उसकी महत्ता !]

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः ।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः ॥

—अथर्व वेद

मनुष्य के शरीर का तत्त्व-भाग वीर्य है । वीर्य का स्तम्भन कठिन कार्य है । इसकी रक्षा की चिन्ता योगियों की उन्निद्र आँखों में, ऋषियों के चेहरों की झुर्रियों में और ब्रह्मचारियों की नियन्त्रित दिन-चर्या में किसे नहीं दीख पड़ती ? मूर्ख लोग भले ही जीवन-शक्ति के रहस्य को न समझते हुए उल्टे मार्ग पर चलें, परन्तु समझदार लोग वीर्य-रक्षा को जीवन का लक्ष्य-विन्दु जानते हैं । इस हिमाद्रि-सम कठिन दुरूह कार्य में तत्त्व-ज्ञानियों के चिन्तित रहने का मुख्य कारण यह है कि शरीर के सार अंश को अन्दर-ही-अन्दर खपा लेने से विद्या और बल की सतत वृद्धि होती है, वीर्य-नाश से मनुष्य का चौमुखा ह्रास होता है । वीर्य-रक्षा बड़े महत्त्व का कार्य है ।

वीर्य-रक्षा के महत्त्व को समझने के लिये—'वीर्य क्या वस्तु है'—इस बात को समझ लेना आवश्यक है । हम यहाँ

पर भारतीय आयुर्वेद तथा पाश्चात्य-आयुर्विज्ञान, दोनों के वीर्य-विषयक मुख्य-मुख्य विचारों का उल्लेख करेंगे ताकि हमारे पाठक इस विषय को भली प्रकार समझ सकें।

१. भारतीय आयुर्वेद

'अष्टांग-हृदय', शारीर स्थान, अध्याय ३, श्लोक ६ में लिखा है—

"रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदस्ततोऽस्थि च अस्थ्नो मज्जा ततःशुक्रं.........।"

भोजन किये हुए पदार्थ से पहले रस बनता है। रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से मेद, मेद से हड्डी, हड्डी से मज्जा, मज्जा से वीर्य—वीर्य अन्तिम धातु है। मशीन में इसके बनने का दर्जा सातवाँ है। इसके बनाने में, शरीर को, जीवन के लिये आवश्यक अन्य सब पदार्थों की अपेक्षा अधिक मेहनत करनी पड़ती है। रस की अपेक्षा रक्त में तत्त्व-भाग अधिक है। उत्तरोत्तर सार-भाग बढ़ता ही जाता है। शरीर की भौतिक शक्तियों का अन्तिम सार वीर्य है। थोडे-से वीर्य को बनाने के लिये रक्त की पर्याप्त मात्रा की आवश्यकता पड़ती है। किंचिन्मात्र वीर्य का नष्ट हो जाना अत्यधिक रुधिर के नष्ट हो जाने के बराबर है। आयुर्वेद के इस सिद्धान्त को अनेक पाश्चात्य-पण्डितों ने भी मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है। डॉ० कोवन ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'दि सायन्स ऑफ ए न्यू लाइफ' के १०६ पृष्ठ पर लिखा है—

"शरीर के किसी भाग में से यदि ४० औंस रुधिर निकाल लिया जाय, तो वह एक औंस वीर्य के बराबर होता है—अर्थात् ४० औंस रुधिर से एक औंस वीर्य बनता है।"

अमेरिका के प्रसिद्ध शरीर-वृद्धि-शास्त्रज्ञ, मैकफेडन महोदय ने अपनी पुस्तक 'मैनहुड एण्ड मैरेज' में इसी विचार को प्रकट किया है। 'एनसाइक्लोपीडिया ऑफ् फ़िज़िकल कल्चर' के २७७२ पृष्ठ पर वे लिखते हैं—

"कई विद्वानों के कथनानुसार ४० औंस रुधिर से १ औंस वीर्य बनता है, परन्तु कुछ-एक बिद्वानों का कथन है कि १ औंस वीर्य की शक्ति ६० औंस रुधिर के बराबर है।"

सम्भवतः इस विषय में पूरा-पूरा हिसाब न हो सकता हो, तथापि इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि थोड़े-से भी वीर्य को उत्पन्न करने के लिये रक्त की बहुत अधिक मात्रा ख़र्च होती है। भारतवर्ष में तो यह चर्चा सर्व-साधारण तक में पाई जाती है। यहाँ हर कोई जानता है कि वीर्य के बनने में उससे ४०, ५० या ६० गुना रुधिर काम में आ जाता है। पाश्चात्य लोगों में यह विचार हाल ही में उत्पन्न हुआ है। मूलतः, यह भारतीय आयुर्वेद का विचार है। जब रुधिर में शरीर को जीवित या मृत बना देने की शक्ति है, तब वीर्य में—जो रुधिर का सार-भाग है—वह शक्ति अप्रत्याख्यात रूप से कई गुनी होनी ही चाहिए।

आयुर्वेद का कथन है कि रुधिर से वीर्य की अवस्था तक पहुँचने में उपर्युक्त सात मंज़िलें तय करनी पड़ती हैं। इनका

पारस्परिक सम्बन्ध क्या है, अन्त में रक्त से वीर्य किस प्रकार बन जाता है—इस विषय पर आयुर्वेद की दृष्टि से अभी तक पूरा-पूरा अनुसन्धान नहीं हुआ। आयुर्वेद से हमें इतना अवश्य पता चलता है कि रुधिर को वीर्य बनने के लिये बड़े लम्बे-चौड़े सात फेरोंवाले रास्ते में से गुजरना पड़ता है। रक्त का सार-भाग बनते-बनते अन्त में वीर्य बनता है।

आयुर्वेद के अनुसार वीर्य का स्थान सम्पूर्ण शरीर है। हृदय में विकार उपस्थित होने पर वीर्य शरीर में से मथा जाकर अण्डकोशों द्वारा प्रकट रूप में उत्पन्न हो जाता है। इसी विषय को स्पष्ट करते हुए 'भाव-प्रकाश'-कार लिखते हैं—

> "यथा पयसि सर्पिस्तु गूढश्चेक्षौ यथा रसः।
> एवं हि सकले काये शुक्रं तिष्ठति देहिनाम्॥ २१०॥
> कृत्स्नदेहस्थितं शुक्रं प्रसन्नमनसस्तथा।
> स्त्रीषु व्यायच्छतश्चापि हर्षात्तत्संप्रवर्तते॥ २१२॥"

अर्थात्, जिस प्रकार दूध को मथने से घी निकल आता है, उसी प्रकार बहु वीर्यवाले देह को भी मथने से वीर्य निकल आता है; जिस प्रकार ईख को पेरने से रस निकलता है, उसी प्रकार अल्प वीर्यवाले पुरुष के शरीर में से भी अत्यन्त मथन करने से, वीर्य प्राप्त होता है। सम्पूर्ण शरीर में रहनेवाला वीर्य मानसिक प्रसन्नता तथा सम्भोग के समय प्रवृत्त होता है। इस प्रकार भारतीय आयुर्वेद के अनुसार वीर्य का स्थान सम्पूर्ण शरीर है, केवल अण्डकोश नहीं।

२. पाश्चात्य आयुर्विज्ञान

पाश्चात्य आयुर्विज्ञान के पण्डित वीर्य को सात धातुओं का सार नहीं मानते। उनके कथानुसार वीर्य सीधा रक्त से उत्पन्न होता है—उसे सात मंजिलों में से गुजरने की आवश्यकता नहीं होती। वे लोग वीर्य को सम्पूर्ण शरीरस्थ नहीं मानते। उनका कथन है कि मनोविकार उपस्थित होने पर अण्डकोश अपनी क्रिया द्वारा एक द्रव उत्पन्न करते हैं। यही द्रव 'उत्पादक वीर्य' है। जिस प्रकार उत्तेजक पदार्थ के सन्मुख आने पर आँखों से आँसू तथा मुख से लार टपकती है, उसी प्रकार अण्डकोशों की ग्रन्थियों (ग्लैंड्स) में से वीर्य निकलता है।

जैसा पहले लिखा जा चुका है, अण्डकोशों में से दो प्रकार का रस उत्पन्न होता है। एक भीतरी, दूसरा बाहरी। भीतरी को 'इन्टरनल सिक्रीशन'—अन्तःस्राव—तथा बाहरी को 'एक्सटरनल सिक्रीशन'—बहिःस्राव—कहते हैं। अन्तःस्राव हर समय अण्डकोशों से होता रहता है, और शरीर में अन्दर-ही-अन्दर खपता रहता है। यह रस सम्पूर्ण देह में व्याप्त होकर आँखों को तेज, मुख को कांति तथा अंग-प्रत्यंग को सुडौलपन देता है। चौदह-पन्द्रह वर्ष की अवस्था में बालक के शरीर में जो अचानक परिवर्तन देख पड़ते हैं, उनका कारण अन्तःस्राव का भीतर-ही-भीतर खप जाना है। जिन प्राणियों के अण्डकोश निकाल दिये जाते हैं, वे क्रिया-शून्य तथा स्फूर्ति-हीन हो जाते हैं। घोड़े,

बैल तथा बकरों को देखकर यह बात आसानी से समझ में आ जाती है। मनुष्यों में भी जिनके अण्डकोश निकाल दिये जायें वे निस्तेज तथा निर्वीर्य हो जाते हैं। उनका हीजड़ों का-सा हाल हो जाता है। वे किसी प्रकार के शारीरिक अथवा मानसिक काम के नहीं रहते।

बहि:स्राव के विषय में पाश्चात्यों का यह कथन है कि इस में शुक्र-कीटाणुओं के साथ-साथ जनन-प्रदेश के अन्य अनेक स्थानों से उत्पन्न हुए द्रव भी मिल जाते हैं। शुक्र-कीटाणु (स्पर्मैटोज़ोआ) तथा उन द्रवों के मेल का नाम ही वीर्य (सीमन) है। शुक्र-कीटाणुओं की उत्पत्ति अण्डकोशों से होती है और वे ही संतानोत्पत्ति के कारण हैं। जिस पुरुष के वीर्य में ये जीवाणु नहीं होते, वह नपुंसक कहलाता है। शराब, तम्बाकू, चाय, काफी, अफीम आदि पदार्थों के सेवन से ये कीटाणु क्रिया-हीन हो जाते हैं, अतः उत्पादन-शक्ति को स्थिर रखने के लिये इन का त्याग ही सर्वोत्तम उपाय है। शरीर से बाहर न निकलने पर शुक्र-कीटाणु शरीर में खप जाते हैं या नहीं, इस विषय में विद्वानों में सम्मति-भेद है, परन्तु डॉ० कोवन तथा अन्य अनेक पण्डितों का मत है कि यदि इन जीवाणुओं को कुविचारों तथा कुकर्मों द्वारा शरीर से बाहर न फेंक दिया जाय, तो वही जीवाणु जो नये जीवन को उत्पन्न करने का सामर्थ्य रखते हैं, शरीर में खपकर व्यक्ति के शारीरिक तथा मानसिक बल को अद्‌भुत रूप से बढ़ा सकते हैं। डा० गार्डनर महोदय का कथन है कि—"वीर्य-

कीटाणु रुधिर का सार-तम भाग है। प्रकृति ने इसे जीवन-दातृ-शक्ति ही नहीं दी, परन्तु इसमें वैयक्तिक जीवन को समृद्ध करने का जादू भी भर दिया है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि शुक्र-कीटाणु के शरीर में खप जाने से सम्पूर्ण देह में सञ्जीवनी-शक्ति का सञ्चार हो जाता है।"

मनुष्य के शरीर की रचना को जाननेवाले सभी विद्वान् एकमत होकर मानते हैं कि भीतरी अथवा बाहरी किसी भी वीर्य-शक्ति का ह्रास मनुष्य की वृद्धि के लिए अत्यन्त हानिकर है। शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक उन्नति के लिए आत्म-संयम द्वारा वीर्य-स्तम्भन अत्यन्त आवश्यक है।

तुलना

वीर्य के सम्बन्ध में पूर्वीय तथा पाश्चात्य विद्वानों की सम्मतियों का उल्लेख करते हुए उनकी तुलना पर विचार करना बड़ा रोचक विषय है। सामान्य दृष्टि से विचार करने पर दोनों में निम्न-लिखित मोटे-मोटे भेद प्रतीत होते हैं—

भेद

१. आयुर्वेद में वीर्य सात धातुओं के क्रम से तथा पाश्चात्य आयुर्विज्ञान के अनुसार सीधा रक्त से बनता है।

२. आयुर्वेद वीर्य को सम्पूर्ण शरीरस्थ मानता है; पाश्चात्य लोग इसे अण्डकोशों द्वारा उत्पन्न हुआ मानते हैं।

३. पाश्चात्य आयुर्विज्ञान में वीर्य के दो रूप, अन्तःस्राव (इन्टरनल सिक्रीशन) तथा बहिःस्राव (एक्सटरनल सिक्रीशन) स्पष्ट रूप से माने गये हैं ; आयुर्वेद में यह भेद नहीं दीख पड़ता।

४. पाश्चात्य-विज्ञान में शुक्र-कीटाणु (स्पर्मेटोज़ोआ) की परिभाषा पाई जाती है। शुक्र-कीटाणु 'उत्पादक वीर्य' का नाम है। आयुर्वेद में उत्पादक वीर्य को 'कीटाणु-विशेष' नहीं माना गया। उनके मत में शुक्र ही से जीवन की उत्पत्ति होती है।

साधारण बुद्धि द्वारा पूर्वीय तथा पाश्चात्य विचारों में वीर्य के सम्बन्ध में यही चार मोटे-मोटे भेद दीख पड़ते हैं। हमारी सम्मति में सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर इन भेदों का बहुत-सा अंश लुप्त होकर दोनों विचारों में अनेक समानताएँ दृष्टि-गोचर होने लगती हैं।

समानताएँ

१. निस्सन्देह आयुर्वेद वीर्य को सात धातुओं में से गुजरकर बना हुआ मानता है, परन्तु स्मरण रखना चाहिये कि आयुर्वेद के कई ग्रन्थों में वीर्य के सात धातुओं में से गुजरकर बनने के सिद्धांत को नहीं भी माना गया। वे यही मानते हैं कि 'केदार-कुल्या-न्याय' से रुधिर ही शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों को भिन्न-भिन्न रस देता जाता है। जैसे बगीचे में पानी सब जगह बहता है, और उसमें से भिन्न-भिन्न वृक्ष भिन्न-भिन्न रस खींच लेते हैं उसी प्रकार रुधिर भी अंग-प्रत्यंग को सींचता हुआ सम्पूर्ण शरीर

को पुष्ट करता है। जब रुधिर अण्डकोशों में पहुँचता है, तब वे रुधिर में से वीर्य खींच लेते हैं। यह विचार अक्षरशः पाश्चात्य-आयुर्विज्ञान के विचार के साथ मिलता है, परन्तु निश्चय से नहीं कहा जा सकता कि यही विचार ठीक है।

२. आयुर्वेद वीर्य को सम्पूर्ण शरीरस्थ मानता है; पाश्चात्य-विज्ञान इसे अण्डकोशों द्वारा जनित मानता है। कईयों के कथनानुसार, वीर्योत्पत्ति में यह स्थान-सम्बन्धी भेद है। परन्तु यह भेद वास्तविक भेद नहीं। पाश्चात्य पंडित यह नहीं मानते कि वीर्य अण्डकोशों में रहता है, वे यही मानते हैं कि वीर्य के उत्पत्ति-स्थान अण्डकोश हैं। मनोमन्थन के बाद वीर्य अण्डकोशों में प्रकट होता है, यह बात दोनों पक्षों को सम्मत है। वीर्य का स्रवण दोनों के मतों में सम्पूर्ण शरीर में से होता है। आयुर्वेद के मुख्य सिद्धांत के अनुसार सात धातुओं के क्रम से बना हुआ वीर्य सरता है, पाश्चात्य-आयुर्विज्ञान के अनुसार वह सीधा रुधिर में से सरता है—सरता या निकलता दोनों मतों में सम्पूर्ण शरीर में से है।

३. यद्यपि भारतीय आयुर्वेद में अन्तःस्राव तथा बहिःस्राव का भाव स्पष्ट रूप से नहीं पाया जाता तथापि जहाँ तक हमने विचार किया है, उसके आधार पर हमारी सम्मति है कि आयुर्वेद में 'तेज' तथा 'ओज' शब्दों का प्रयोग अन्तःस्राव (इन्टरनल सिक्रीशन) और 'रेतस्' तथा 'बीज' शब्दों का प्रयोग बहिःस्राव (एक्सटरनल सिक्रीशन) के लिये किया गया है। 'शुक्र'

तथा 'वीर्य' शब्द भीतरी तथा बाहरी, दोनों स्रावों के लिये प्रयुक्त हो जाते हैं। वाग्भट्ट ने 'ओज' का निम्न वर्णन किया है—

"ओजश्च तेजो धातूनां शुक्रान्तानां परं स्मृतम्।
हृदयस्थमपि व्यापि देहस्थितिनिबंधनम्॥
यस्य प्रवृद्धौ देहस्य तुष्टिपुष्टिफलोदयाः।
यन्नाशे नियतो नाशो यस्मिंस्तिष्ठति जीवनम्॥
निष्पद्यंते यतो भावा विविधा देहसंश्रयाः।
उत्साह प्रतिभा धैर्य लावण्य सुकुमारताः॥"

अर्थात्, ओज सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है, देह की स्थिति का कारण है। ओज के बढ़ने से तुष्टि, पुष्टि तथा बल का उदय होता है, ओज के नष्ट हो जाने से यह सब-कुछ नष्ट हो जाता है। ओज ही से उत्साह, धैर्य, लावण्य और सुकुमारता आदि नाना-विध भाव प्रकट होते हैं।

यह वर्णन 'अन्तःस्राव' के विषय में लिखे गये पाश्चात्य आयुर्विज्ञों के वर्णनों से बिलकुल मिलता है। मैकफैडन महोदय 'इन्टरनल सिक्रीशन'—अन्तःस्राव—के विषय में लिखते हैं—

"इन ग्रन्थियों से निकली हुई एक-एक बूँद उत्पन्न होते ही शरीर में खप जाती है। इसका परिणाम अनवरत उत्साह-वृद्धि तथा स्वास्थ्य है, जो बचपन में विशेष रूप से दीख पड़ता है।"

जैसा ऊपर दर्शाया गया है 'अन्तःस्राव' के विषय में वाग्भट्ट तथा मैकफैडन के वर्णनों में कोई भेद नहीं। 'बहिःस्राव' पर पूर्वीय तथा पाश्चात्य आयुर्विज्ञान की सम्मतियों में कुछ भेद अवश्य

है, परन्तु 'बहिःस्राव' की सत्ता को आयुर्वेद में स्वीकार अवश्य किया गया है। भाव प्रकाश मे लिखा है—

"शुक्रं सौम्यं सितं स्निग्धं बलपुष्टिकरं स्मृतम्।
गर्भबीजं वपुः सारो जीवस्याश्रय उत्तमः। २३७॥"

अर्थात्, वीर्य सोमात्मक, श्वेत, स्निग्ध, बल और पुष्टि-कारक, गर्भ का बीज, देह का सार-रूप और जीव का उत्तम आश्रय-रूप है। वीर्य का यह वर्णन किसी भी पाश्चात्य लेखक के 'बहिःस्राव' के वर्णन से अक्षरशः मिलता है।

४. हाँ, 'बहिःस्राव' के स्वरूप के विषय में दोनों विज्ञानों मे अत्यन्त सम्मति-भेद है। आयुर्वेद में बहिःस्राव के लिए शुक्र-कीटाणु (स्पर्मेटोज़ोआ) का शब्द नहीं पाया जाता, पाश्चात्य-विज्ञान में पाया जाता है; आयुर्वेद में 'शुक्र', एताव-न्मात्र शब्द का प्रयोग होता है।

अण्डकोशों के 'बहिःस्राव' के विषय मे दो कल्पनाएँ हैं। आयुर्वेद के कथनानुसार 'शुक्र' ही बहिःस्राव है; पाश्चात्य आयु-र्विज्ञों के अनुसार 'शुक्र-कीटाणु' बहिःस्राव है। स्मरण रखना चाहिये कि आयुर्वेद ने शुक्र को बहिःस्राव कहते हुए शुक्र-कीटाणु से इनकार नहीं किया। उस 'शुक्र' का नाम यदि 'शुक्र-कीटाणु' रक्खा जा सके, तो आयुर्वेद को कोई आपत्ति नहीं।

परंतु क्या बहिःस्राव (शुक्र) का नाम शुक्र-कीटाणु रक्खा जा सकता है? क्या यह पदार्थ जो हिलता-जुलता, गति करता मालूम पड़ता है, उसमें कोई पृथक् चेतनता है, उसमें

मनुष्य के आत्मा से भिन्न आत्मा है, या वह प्राणी की भौतिक चेतनता का ही रूपांतर है ?

हमारी सम्मति में उत्पादक वीर्य को कीटाणु-विशेष कहना अनुचित है। क्योंकि उत्पादक वीर्य मे गति होती है, वह चलता-फिरता है, अतः उसे पाश्चात्य आयुर्विज्ञों ने 'स्पर्मैटोज़ोआ' या चेतना-विशिष्ट-जीवाणु का नाम दे दिया है—वास्तव में वह शुक्र ही है। भारतीय आयुर्वेद के साथ अध्यात्म-शास्त्र भी मिला हुआ है। यदि शुक्र को शुक्र-कीटाणु का नाम दे दिया जाय, तो उसमें मनुष्य से पृथक् चेतनता मानने का भाव झलकने लगेगा। यह बात भारतीय अध्यात्म-शास्त्र स्वीकार नहीं करता। अतः आयुर्वेद में शुक्र को शुक्र-कीटाणु का नाम नहीं दिया गया और ना ही यह नाम देना किसी प्रकार उचित प्रतीत होता है। उन्हें 'कीटाणु' या 'जीवाणु' का नाम क्यों दिया जाय ? उनकी गति का कारण उनकी पृथक् चेतनता नहीं है। शुक्र-कीटाणुओं की गति, अथवा चेतनता, मनुष्य के मस्तिष्क की गति अथवा चेतनता से उत्पन्न होती है, अतः उन्हें यथार्थ में 'शुक्र' नाम ही देना चाहिये, 'कीटाणु' या 'जीवाणु' नहीं। हाँ, केवल व्यवहार के लिए—क्योंकि उनमें गति दिखलाई देती है इसलिए—यदि उन्हें 'कीटाणु' कह दिया जाय तो इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं। हमें आपत्ति तभी हो सकती है, जब प्रत्येक कीटाणु में आत्मा माना जाय, और क्योंकि एक वीर्य-स्राव में ही सैकड़ों कीटाणु होते हैं, अतः प्रत्येक 'स्पर्मैटोज़ोआ' में आत्मा माना जाय।

३. तीसरा विचार

हमने अभी कहा कि 'उत्पादक वीर्य' की गति का कारण मस्तिष्क है, 'उत्पादक वीर्य' की 'पृथक् चेतनता' नहीं। यह कथन हमें वीर्य के स्वरूप के सम्बंध में तीसरे विचार की तरफ ले आता है। आयुर्वेद तथा पाश्चात्य आयुर्विज्ञान के अतिरिक्त वीर्य के स्वरूप के विषय में एक तीसरा विचार भी है, जिसका उल्लेख करना अत्यन्त आवश्यक है।

कई विचारकों का कथन है कि 'उत्पादक वीर्य' (स्पर्मैटोज़ोआ) की उत्पत्ति रुधिर अथवा अण्डकोशों से नहीं, बल्कि सीधे मस्तिष्क से होती है। उनका कथन है—"वीर्य का नाश मस्तिष्क का नाश है क्योंकि वीर्य तथा मस्तिष्क दोनों एक ही पदार्थ हैं।" इसमें सन्देह नहीं कि वीर्य तथा मस्तिष्क को बनानेवाले रासायनिक पदार्थ एक ही हैं। दोनों की तुलना करने पर उनमें बहुत ही थोड़ा अंतर प्रतीत हुआ है। इस विषय पर अभी गहरे अन्वेषण की आवश्यकता है। यदि रसायन-शास्त्र से सिद्ध हो जाय कि 'उत्पादक वीर्य' तथा 'मस्तिष्क' की रचना में कोई भेद नहीं, तो ब्रह्मचर्य के लिये एक अकाट्य युक्ति तैयार हो जाय। हम यहाँ पर डॉक्टरों तथा रसायन-शास्त्र के विद्यार्थियों को संकेत करना चाहते हैं कि यदि वे इस विषय पर अधिक मनन कर कुछ क्रियात्मक विचारों तक पहुँच सकें, तो बहुत लाभ हो।

इस सिद्धांत के सबसे प्रबल पोषक अमेरिका के प्रसिद्ध डॉ० एन्ड्रूज़ जैक्सन डेविस थे। वे अपनी पुस्तक 'ऐन्सर्स टु एवर रिकरिंग क्वेश्चन्स फ्रॉम दि पीपल' के २६२ पृष्ठ पर लिखते हैं—

"कई शरीर-शास्त्रियों ने यह भ्रम-मूलक विचार फैला दिया है कि वीर्य की उत्पत्ति रुधिर से होती है। इस सिद्धांत से बुद्धिमान् व्यभिचारी लोग खूब फायदा उठाते हैं। वे कहते हैं कि यतः रुधिर से ही वीर्य बनकर अण्डकोशों द्वारा प्रकट होता है, अतः वे वीर्य का दुरुपयोग करते हुए भी खा-पीकर उसकी कमी को पूरा कर सकते हैं। वे लोग कुछ नहीं जानते। वास्तव में सचाई यह है कि 'उत्पादक वीर्य', 'वीर्य-कीटाणु' अथवा 'स्पर्मैटोज़ोआ' की उत्पत्ति मस्तिष्क से होती है और अन्य द्रवों के साथ मिलकर वह अण्डकोशों में बहिःस्राव के रूप में प्रकट होता है।

"उत्पत्ति का कार्य जीवन के सब कार्यों की अपेक्षा अधिक बड़ा और थकनेवाला कार्य है। इसमें मनुष्य की प्रत्येक शक्ति, प्रत्येक भाव तथा शरीर और मन का हरएक हिस्सा भाग लेता है। मस्तिष्क से उत्पन्न हुआ प्रत्येक 'शुक्र-कीटाणु' यदि बाहर निकलता है, तो मस्तिष्क के उतने अंश का पूरा नाश समझना चाहिये।

"शारीरिक परिश्रम, मानसिक कार्य तथा किसी एक काम की तरफ लगातार लगे रहने से 'वीर्य-कीटाणु' अथवा 'स्पर्मैटोज़ोआ' मस्तिष्क में ही खप जाता है। यदि 'वीर्य-कीटाणु'

को केवल उत्पत्ति के लिए काम में लाया जाय, तो मनुष्य की शारीरिक तथा मानसिक शक्तियाँ नष्ट होने से बच जाती हैं।

"इसलिए स्मरण रखना चाहिये कि उत्पादक पदार्थों का उचित मात्रा से अधिक खर्च करना अथवा प्रकृति के नियमों का उल्लंघन करना मस्तिष्क पर अत्याचार करना है। ऐसा करने से दिमाग़ को सब तरह की बीमारियों के होने का पूरा निश्चय है। जिन लोगों पर बच्चों की रक्षा की जिम्मेवारी है, उन्हें इन बातों को कभी न भूलना चाहिये।"

मस्तिष्क तथा वीर्य में कोई ख़ास सम्बंध अवश्य है। वीर्य-नाश का दिमाग़ पर सीधा असर होता है, यह किसी से छिपा नहीं। डॉ० कोवन यह मानते हैं कि दिमाग़ से एक द्रव उत्पन्न होकर उस तरफ़ को, जिस तरफ़ मनुष्य के मनोभाव केन्द्रित होते हैं, बहने लगता है। डॉक्टर हॉल का कथन है कि अण्डकोशों से एक पदार्थ उत्पन्न होकर मस्तिष्क में पहुँचता है, जहाँ से वह यौवनावस्था में प्रकट होनेवाले सब शारीरिक तथा मानसिक परिवर्तनों को प्रादुर्भूत करता है। डॉक्टर ब्लौश कहते हैं कि मस्तिष्क तथा वीर्य का पारस्परिक सम्बंध देर से माना जा रहा है। यहाँ तक कि शैलिंग को 'नैचुरल फ़िलॉसफ़ी' में मस्तिष्क के लिए—'अण्डकोशों के रस से बना हुआ दिमाग़'—यह नाम पाया जाता है।

'वीर्य के स्वरूप' के सम्बंध में हमने तीनों मुख्य विचारों का उल्लेख इसलिए कर दिया है, ताकि प्रत्येक व्यक्ति इस बात

को भली प्रकार समझ ले कि वीर्य-रक्षा किये बिना उसका कोई निस्तार नहीं। तीनों विचार तत्त्वतः एक ही हैं। किसी भी दृष्टि से क्यों न देखा जाय, वीर्य-रक्षा करना जीवन-रक्षा के लिये आवश्यक—अत्यन्त आवश्यक—प्रतीत होता है। हमारे नवयुवक पाश्चात्य विचारों के पर्दे के पीछे अपनी कमजोरियों को छिपाने का प्रयत्न करते हैं, जान-बूझकर अपने को धोखे में डालते हैं, परंतु उन्हें अपने आत्मा की आवाज़ सुनकर अवश्यम्भावी नाश से बचने की फ़िक्र करनी चाहिये। पश्चिमीय विज्ञान ने अभी तक जो कुछ पता लगाया है, वह ब्रह्मचर्य के हक में ही जाता है। उसका दुरुपयोग करने की कोशिश न कर, उससे शिक्षा लेनी चाहिये। डॉक्टर स्टाल ने अपनी पुस्तक 'वट ए यंग हसबैण्ड औट टु नो' में जीवन-शास्त्र की दृष्टि से बहुत ही उत्तम लिखा है—

"जो लोग वृक्षों की रक्षा करना जानते हैं, उन्हें यह भी मालूम है कि वृक्षों के सौंदर्य को क़ायम रखने के लिए आवश्यक कि उनके फलोत्पादन के समय को जितना ही सके, उतना पीछे हटाने का प्रयत्न किया जाय। जब तक हम उनके बीज न बनने देंगे, तब तक वे हरे-भरे, लहलहाते और फूलों से लदे रहेंगे। पुष्प के बीज बनने की सम्भावना को दूर कर दो, तुम देखोगे कि वह फूल पहले की अपेक्षा कई घण्टे अधिक देर तक खिला रहता है। कीड़ों का भी यही हाल है। देखा गया है कि जब उनके वीर्य नष्ट होने की सम्भावना को रोक दिया

[illegible] तब वे अपनी जाति के दूसरे कीड़ों की अपेक्षा बहुत अधिक जीते हैं। एक तितली पर परीक्षण करके देखा गया कि जहाँ जनन-शक्ति का उपयोग करनेवाली तितलियाँ कुछ ही दिनों की मेहमान थीं, वहाँ वह तितली दो साल से भी ऊपर जीती रही।"

ऐसे परीक्षणों से वीर्य-रक्षा का जीवन के लिए महत्त्व अखण्डित रूप से सिद्ध है—इसमें क्षण-भर के लिए भी सन्देह नहीं करना चाहिये।

द्वादश अध्याय

'ब्रह्मचर्य'

[वीर्य-रक्षा ही जीवन है, वीर्य-नाश ही मृत्यु है !]

शरीर की प्रारम्भिक अवस्था में संचय-शक्ति प्रधान रहती है। हम खाते-पीते और मौज उड़ाते हैं। किसी प्रकार की चिन्ता नहीं करते। शरीर बढ़ता चला जाता है। कहाँ बचपन का एक हाथ नन्हा-सा पुतला और कहाँ छः फीट लम्बा, डेढ़ मन का बोझ! परन्तु इस वृद्धि में वही आँखें, नाक, कान, अंग-प्रत्यंग तथा आत्मा विद्यमान हैं। वही छोटी चीज बड़ी हो गई है, वही हल्की वस्तु भारी हो गई है। इस आश्चर्य-जनक परिवर्तन का कारण शरीर की 'संचय-शक्ति' है। हमने बड़े परिश्रम से उपादेय पदार्थों का शरीर में संग्रह किया है, इसी से आज देह उन्नत तथा प्रवृद्ध दिखाई देता है।

परन्तु यह उन्नति चिर-स्थायिनी नहीं। दिन चढ़कर ढलता है, लहर उठकर गिरती है। शरीर भी हट्टा-कट्टा होकर क्षीण होने लगता है। 'संचय' के अनन्तर 'विचय' प्रारम्भ होता है। जीवन के बाद मृत्यु पदार्पण करने लगती है। हम दैनिक व्यवहार में देखते हैं कि मनुष्य की समृद्ध होती हुई शक्तियाँ किसी समय आकर ठहर जाती हैं, रुक जाती हैं, कहीं जाकर पतनोन्मुख

होने लगती हैं। मनुष्य जैसे-का-तैसा नहीं बना रहता। यह ऊँच-नीच क्यों?—यह परिवर्तन क्यों?

जिन्होंने संचय के पश्चात् विचय, अथवा उन्नति के बाद नाश के अवश्यम्भावी चक्र पर विचार किया है, उनका कथन है कि इसका कारण, जीवन की प्रौढ़ावस्था के अनन्तर, दो परस्पर विरुद्ध प्रवृत्तियों का टक्कर खाना है। शरीर-वृद्धि की स्वार्थमयी प्रवृत्ति प्रजा-जनन की परमार्थ-प्रवृत्ति से दब जाती है। मनुष्य घर बनाकर बैठ जाता है। अपने शरीर में संचय करना छोड़कर सन्तानोत्पत्ति करना प्रारम्भ करता है। प्रकृति खेल करती हुई उसे अपनी उँगलियों पर नचाती है। जो व्यक्ति खाने, पीने और अपने शरीर के विषय में सोचने से आराम नहीं लेता था, वही परमार्थ के चक्कर में घूमने लगता है। अपनी सन्तान के लिये कठिन-से-कठिन कष्ट भोगने के लिये तैयार हो जाता है। स्वभाव-सिद्ध क्रम से, स्वार्थ की अवस्था के पीछे स्वार्थ-त्याग की अवस्था आ जाती है।

मनुष्य की 'शक्तियों का ह्रास' तथा 'प्रजा-जनन', दोनों एक ही समय में प्रारम्भ होते हैं। प्रजोत्पत्ति के पश्चात् अधिक शारीरिक उन्नति की सम्भावना नहीं रहती। जिस तत्त्व से शारीरिक-उन्नति हो सकती थी, वह प्रजोत्पत्ति में काम आ जाता है, फिर शारीरिक उन्नति क्यों न रुक जाय? प्रजा उत्पन्न करना बुरा कार्य नहीं। ऊँचे अर्थों में सन्तान उत्पन्न करना 'ब्रह्म' का अनुकरण करना है। परन्तु इतने से क्या प्रजोत्पत्ति के

अवश्यम्भावी परिणाम रुक सकते हैं?—नहीं, कभी नहीं। प्रजोत्पत्ति के प्रारम्भ होते ही शारीरिक शक्तियों का ह्रास प्रारम्भ हो जाता है। संचय की शक्तियों को विचय की शक्तियाँ आ घेरती हैं। मनुष्य का क़दम मृत्यु की तरफ़ बढ़ने लगता है, क्योंकि संजीवनी-शक्ति के बीज का शरीर से बाहर जाना जीवन का प्रतिद्वन्द्वी है। जब शरीर में वृद्धि अधिक नहीं समा सकती, तब उत्पत्ति प्रारम्भ करने से किसी हानि की सम्भावना नहीं, परन्तु इससे पूर्व उत्पत्ति का कार्य प्रारम्भ करने पर मनुष्य किसी प्रकार भी नाश से नहीं बच सकता। प्रजा-जनन, शरीर-वृद्धि के चरम सीमा तक पहुँच जाने का स्वाभाविक परिणाम होना चाहिये—इसी का नाम 'ब्रह्मचर्य' है। जब भी शरीर-वृद्धि के समय में प्रजोत्पत्ति की जाती है, तभी ब्रह्मचर्य के नियमों का उल्लंघन होता है। 'शरीर-वृद्धि' अथवा 'संचय' की अवस्था में वीर्य का हस्त-मैथुन, व्यभिचार अथवा बाल-विवाह आदि किसी रूप में भी नाश करना 'मृत्यु' का आह्वान करना है, क्योंकि ब्रह्मचर्य ही जीवन है, अब्रह्मचर्य ही मृत्यु है।

उत्पत्ति के साथ नाश का अविनाभाव सम्बन्ध है। प्रजोत्पत्ति में वीर्य का क्षय होता है। वीर्य के क्षय का बदला चुकाने के लिये प्रत्येक प्राणधारी को मृत्यु की गठरी सिर पर उठानी पड़ती है। जीवन-शास्त्र पर जिन्होंने लिखा है, उनकी पुस्तकों से कई ऐसे दृष्टान्त संगृहीत किए जा सकते हैं, जिनसे उत्पत्ति तथा नाश का सम्बन्ध स्पष्ट प्रतीत होने लगे। पाठकों को वीर्य-रक्षा

के महत्त्व को दर्शाने के लिये हम यहाँ ऐसे ही कुछ दृष्टान्तों का संग्रह करेंगे।

हैवलाक एलिस महोदय अपनी पुस्तक 'एरोटिक सिम्बोलिज़्म' के १६८ पृष्ठ पर इस सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए लिखते हैं—

"वीर्य-नाश में वेदना-तन्तुओं का जो तनाव होता और उससे शरीर को जो धक्का पहुँचता है, वह इतना भयंकर होता है कि उसके बाद अनुभव होनेवाले दुष्परिणामों का होना सर्वथा स्वाभाविक है। पशुओं मे यह देखने में आया है कि प्रथम सम्भोग के बाद बड़े-बड़े तैयार बैल और घोड़े बेहोश होकर गिर पड़ते हैं, सूअर संज्ञा-हीन हो जाते हैं, घोड़ियाँ गिरकर मर जाती हैं। मनुष्यों में मौत तो देखी ही गई है, परन्तु उसके साथ ही वीर्य-नाश के बाद की थकान से अनेक उपद्रव भी उत्पन्न हो जाते हैं। कभी-कभी कई दुर्घटनाएँ होती देखी गई हैं। नवयुवकों में प्रथम सम्भोग से बेहोशी तथा कै आदि होती हैं, कई बार मिरगी हो जाती है, अंग ढीले पड़ जाते हैं, तिल्ली फट जाता है। रुधिर के दबाव को न सह सकने के कारण कइयों के दिमाग़ की नाड़ियाँ खुल जाती हैं, अर्धांग हो जाता है। वृद्ध पुरुषों के वेश्याओं के साथ अनुचित सम्बन्ध का परिणाम अनेक बार मृत्यु देखा गया है। अनेक पुरुष नव-विवाहिता वधुओं के आलिंगन के आवेग को नहीं सह सके और उसी अवस्था में प्राण-विहीन हो गये।"

शहद की मक्खियाँ प्रथमालिंगन के सम-काल ही जीवन से हाथ धो बैठती हैं। तितलियों का श्वास सम्भोग के साथ ही समाप्त हो जाता है। कीड़ियों की भी यही कहानी है। मछलियाँ सन्तानोत्पत्ति के अनन्तर अत्यन्त क्षीण हो जाती हैं। मृत्यु उनसे दूर नहीं रहती। कीड़ों, पतंगों में, प्रजोत्पत्ति तथा मृत्यु, दोनों ऐसे मिले-जुले हैं कि एक को दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। चूहे, गिलहरी, ख़रगोश प्रजोत्पत्ति के बाद कई बार मर जाते हैं, कई बार बेहोश होकर एक ओर को गिर पड़ते हैं। पक्षियों में सम्भोग का परिणाम सर्वत्र तात्कालिक मृत्यु नहीं पाया जाता, परन्तु इसके दुष्परिणाम उनमें भी किसी-न-किसी रूप में बने ही रहते हैं। जीवन की लहर के आवेग में उनके जो मधुर गीत निकलते थे, वे अब सूख जाते हैं, चित्रकार को चकित कर देनेवाले पंखों के रंग उड़ जाते हैं, नाचना भूल जाता है, क़दम ढीला हो जाता है। ज्यों-ज्यों जीवन उन्नति की तरफ़ चलता जाता है, त्यों-त्यों उत्पत्ति के साथ जुड़ी हुई मृत्यु भी अपने भयंकर स्वरूप को सौम्य बनाने का प्रयत्न करती है, परन्तु कितना भी क्यों न हो, उसकी भयंकरता का रुद्र-रूप शिथिल होता हुआ भी दुष्परिणामों में वैसे-का-वैसा ही बना रहता है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उत्पत्ति की थकान का प्रथम शिकार, नाटक का सूत्रधार 'नर' ही होता है। मरना हो, तो वही पहले मरता है, बेहोश होना हो, तो वही पहले होता है। वही इस उपाख्यान का प्रधान पात्र है; उसी ने रँगीलेपन में फाग उड़ाया है, उसी

से क़िस्सा भी खत्म होता है। 'मादा' का जीवन भी संकट में पड़ता है, परन्तु 'नर' की अपेक्षा बहुत कम। क्षुद्र प्राणियों में प्रजोत्पत्ति की ज्वाला भयंकर रूप धारण कर 'नर' को तत्काल भस्म कर देती तथा 'मादा' को स्वल्प-काल में ही भस्मावशेष कर देती है। मनुष्य में इस ज्वाला की शिखा धीमे-धीमे जलती है। कभी ज्वाला चमक उठती, और कभी दब जाती है। इस ज्वाला की गर्मी से मनुष्य को अनेक प्रसुप्त शक्तियों का क्रमिक विकास होता है, परन्तु इसकी शिखाओं को भयंकर रूप देनेवाले को स्मरण रखना चाहिये कि यदि इस आग ने प्रचण्ड रूप धारण कर लिया, तो उसी को, स्वयं बलि बनकर, अग्नि-देव की रुधिर-पिपासा को शांत करना होगा।

जेड्डीज़ और थौमसन ने 'दि एवोल्यूशन ऑफ़् सेक्स' में जो विचार प्रकट किये हैं, उनका इस प्रकरण में उल्लेख करना अत्यन्त शिक्षा-प्रद सिद्ध होगा। अपनी पुस्तक के २५५ पृष्ठ पर वे लिखते हैं—

"मृत्यु तथा उत्पत्ति का सम्बन्ध बहुत स्पष्ट है, परन्तु साधारण बोल-चाल में इस सम्बन्ध को शुद्ध रूप में नहीं कहा जाता। लोग कहते हैं कि सब प्राणियों को मरना अवश्य है, अतः उन्हें सन्तानोत्पत्ति ज़रूर करनी चाहिये। ऐसा न करने से प्राणियों का सर्वथा लोप हो जायगा। परन्तु यह बात अशुद्ध है। पीछे क्या होगा या क्या न होगा, यह सोचनेवाले संसार में थोड़े हैं। यथार्थ बात जो प्राणियों के जीवन के इतिहास से समझ

पड़ती है, यह नहीं है कि—'वे प्रजोत्पत्ति इसलिए करते हैं, क्योंकि उन्हें मरना है'—परन्तु यह है कि—'वे मरते इसलिए हैं, क्योंकि वे प्रजोत्पत्ति करते हैं'। गेटे का कथन सत्य है कि 'मृत्यु से बचने के लिये हम प्रजोत्पत्ति नहीं करते, परन्तु क्योंकि हम प्रजोत्पत्ति करते हैं, इसलिए उसके अवश्यम्भावी परिणाम, मृत्यु से नहीं बच सकते।'

"विजमैन तथा गेटे, दोनों ने भिन्न-भिन्न उद्देश्यों से ऐसे कीटों तथा पतंगों के जीवनों को दर्शाया है, जो 'वीर्य-कीटाणु' के नष्ट होने के कुछ घण्टों के बाद मर जाते हैं। 'नर' में विचय-शक्ति अधिक है। अतः उसके जल्दी ख़त्म होने की सम्भावना है। नर मकड़ी सम्भोग के बाद मर जाता है। उसका मरना अन्य प्राणियों के मरने पर प्रकाश डालता है।......उच्च प्राणियों में उत्पत्ति के लिए किये जानेवाले त्याग के साथ मिला हुआ नाश का अंश कम अवश्य हो जाता है, परन्तु फिर भी प्रेम का बदला चुकाने के लिए मृत्यु का भूत बिल्कुल पीछा नहीं छोड़ता। प्रेम के प्रभात का अन्त प्रायः मृत्यु की घोर निशा में होता है।"

उपर्युक्त उद्धरण में एक कथन बड़े महत्त्व का है। जेड्डीज़ तथा थौमसन की सम्मति है कि प्राणि-जगत् में उत्पत्ति इसलिए प्रारम्भ नहीं होती, क्योंकि उनकी मृत्यु अवश्य होनी है, परन्तु उनकी मृत्यु इसलिए होनी है, क्योंकि वे उत्पत्ति प्रारम्भ कर देते हैं। मृत्यु सन्तानोत्पत्ति का अवश्यम्भावी परिणाम है। निस्स-

सन्देह यह एक स्थापना है, परन्तु ध्यान रखना चाहिये कि इस स्थापना के करनेवाले साधारण व्यक्ति नहीं हैं। यह स्थापना ऐसे व्यक्तियों ने की है, जिनका विज्ञान पर ऋण है, जिन्होंने जीवन-शास्त्र के प्रश्न पर अपना बहुत समय बिताया है। अनुभव इस स्थापना की पुष्टि करता है। उत्पत्ति के साथ विनाश के इस नित्य-सम्बन्ध को ही तो देखकर ऋषि-मुनियों ने ब्रह्मचर्य पर इतना बल दिया था, ब्रह्मचर्य के आदर्श को उत्तरोत्तर बढ़ाया था। वसु, रुद्र तथा आदित्य ब्रह्मचारियों में वसु को निकृष्ट ब्रह्मचारी ठहराया था। कितना ऊँचा लक्ष्य है! चौबीस साल तक ब्रह्मचर्य रखना पर्याप्त नहीं समझा गया। प्राचीन ऋषियों ने ब्रह्मचर्य के प्रश्न को विवाद अथवा व्याख्यान देने तक सीमित नहीं रक्खा था। ब्रह्मचर्य का प्रश्न उनके लिए जीवन-मरण का प्रश्न था। इस पर उन्होंने ऐसे ही विचार किया था, जैसे आजकल के विद्वान् किसी 'सायन्स' के विषय पर करते हैं। संयम तथा ब्रह्मचर्य को लक्ष्य में रखकर उन्होंने नियन्त्रित पाठशालाएँ चलाई थीं, जिनका नाम 'गुरुकुल' था। गुरुकुलों में आजकल के स्कूलों और कॉलेजों की तरह किताबें रटवाकर विद्यार्थियों को पैसा पैदा कर सकने की मैशीन बना देना उद्देश्य न होता था। आचार को मर्यादा तक पहुँचाना वहाँ का ध्येय रक्खा गया था। जिस प्रकार आजकल किताबें पढ़ाना स्कूलों का अन्तिम उद्देश्य समझा जाता है, ठीक इसी प्रकार ब्रह्मचर्य का पालन कराना, संयम-पूर्वक जीवन बिता सकने की शिक्षा देना,

गुरुकुलों का चरम लक्ष्य था। प्राचीन काल में यह कार्य, आज-कल के शब्दों में एक 'सायन्स' का महत्त्व रखता था, इसके लिये बड़े-बड़े मस्तिष्क दिन-रात लगे रहते थे। ऋषियों ने जीवन के महत्त्व-पूर्ण प्रश्न का एक हल निकाला था:—वह था 'ब्रह्मचर्य'। उनके गुर बड़े सरल थे, परन्तु ब्रह्मचर्य के भावों से पुर थे। वे कहते थे—'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत'—ब्रह्मचर्य के तप से देवताओं ने मृत्यु पर विजय प्राप्त किया; 'ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठायां वीर्य लाभः'—ब्रह्मचर्य के स्थिर रखने से शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक बल प्राप्त होता है; 'मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्'—बिन्दु-पात में जीवन का नाश तथा बिन्दु-रक्षण में जीवन की रक्षा है। कैसे छोटे-छोटे संस्कृत के सुन्दर टुकड़े हैं, परन्तु इन्हीं में जीवन की विकट समस्याओं के कैसे जीवन-शास्त्र तथा शारीर-शास्त्र के महत्त्व-पूर्ण हल भरे हुए हैं।

त्रयोदश अध्याय

'ब्रह्मचर्य'

[ब्रह्मचर्य के नियम और ऋषियों की बुद्धिमत्ता]

ऋषियों ने ब्रह्मचर्य के प्रश्न पर पूरा-पूरा विचार कर लिया था। सदाचार का जीवन किस प्रकार व्यतीत किया जा सकता है, इसकी उन्होंने पूरी-पूरी खोज की थी और उसी के आधार पर ब्रह्मचर्य के नियमों को गढ़ा था। इस प्रकरण में हम ब्रह्मचर्य के नियमों का उल्लेख करते हुए यह भी दर्शाने का प्रयत्न करेंगे कि ऋषियों-मुनियों ने ब्रह्मचर्य के लिये जिन नियमों का प्रतिपादन किया है, यद्यपि वे साधारण दृष्टि से मामूली-से जान पड़ते हैं, तथापि उनमें गहन मनोवैज्ञानिक सिद्धांत कार्य कर रहे हैं। उनकी आज्ञाएँ वर्तमान परीक्षणों, गवेषणाओं तथा सार्वभौम अनुभवों से भी पूर्णतया वैज्ञानिक सिद्ध होती हैं।

निम्न-लिखित श्लोकों में ब्रह्मचर्य के सिद्धांत संक्षिप्त रूप से समाविष्ट हैं—

> "स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
> संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च॥
> एतन्मैथुनमष्टांगं प्रवदन्ति मनीषिणः।
> विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्टलक्षणम्॥"

इन्हीं अष्टांग मैथुनों का निषेध, उपनयन-संस्कार के समय 'मैथुन वर्जय' उपदेश द्वारा किया जाता है—'हे बालक ! यौवन-काल में से गुजरते हुए आठ प्रकार के मैथुनों से बचना। ध्यान, कथा, स्पर्श, क्रीड़ा, दर्शन, आलिंगन, एकांत-वास और समागम में से किसी एक का भी शिकार मत बनना, वीर्य-रक्षा करना। जो मनुष्य इनका शिकार हो जाता है, वह किसी भी अवस्था में ब्रह्मचारी नहीं रह सकता।'

आत्म-संयम तथा वीर्य-रक्षा के लिये ये शिक्षाएँ ब्रह्मचारी को गुरुकुल में प्रविष्ट होते ही दी जाती थीं। इन शिक्षाओं का, संक्षेप में यही अभिप्राय है कि ज्ञान की साधन पाँचों इंद्रियों को मार्ग से विच्युत न होने देना चाहिए। उनका सदा सदुपयोग करना चाहिए। उन्हें भटकने न देना चाहिए। ब्रह्मचर्य के उपदेश में एक-एक इन्द्रिय को वश करने पर विशेष बल दिया गया है। सन्ध्या में प्रत्येक इन्द्रिय का नाम लेकर उसे सीधे मार्ग पर चलाने की प्रेरणा की गई है। प्रत्येक इन्द्रिय के दुरुपयोग से ब्रह्मचर्य-हानि की सम्भावना है, अतः ऋषियों ने एक-एक इन्द्रिय को लक्ष्य में रखकर ऐसी आज्ञाएँ प्रचलित की थीं, जिनके पालन करने से उन सम्भावनाओं को सर्वथा रोक दिया जाय। उनकी आज्ञाओं का आधार बिलकुल वैज्ञानिक है। यही दर्शाने के लिये हम एक-एक इन्द्रियार्थ का वर्णन करते हुए पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के विषयों पर अर्वाचीन तथा प्राचीन विचारों की दृष्टि से कुछ लिखेंगे।

पाँचों इन्द्रियों से गिरावट किस प्रकार होती है, इस पर विचार करने से पहले शायद 'मौके' पर कुछ लिख देना प्रकरणान्तर न होगा, क्योंकि 'मौका' पाकर ही 'रूप' आदि मनुष्य पर धावा बोल देते हैं। 'मौका' मनुष्य को गिरावट का शायद सबसे बडा साधन है। बालकों को गिरने के लिये मौक़ा मिल जाता है, बालिकाओं को गिरावट के लिये अवसर प्राप्त हो जाता है, बड़ी उम्र के पुरुष तथा स्त्रियों को भी गिरने के लिये अवसर ढूँढ़ने की कठिनता नहीं होती। 'मौका' ऐसी चीज है, जिसके मिलते ही मनुष्य का धर्म-कर्म कूच कर जाता है। संसार को उपदेश देनेवाला महात्मा आत्महत्या का महापातक कर बैठता है।

बच्चों को खुला छोड़ देना भयङ्कर पाप है। यदि उनकी प्रत्येक गति पर प्रेममय नियन्त्रण की आँख न रक्खी जाय, तो उनका घृणिततम पातकों को सीख जाना अत्यन्त स्वाभाविक है। हमें माता-पिता की मूर्खता पर हँसी आती है, जब वे अपनी संतान की पवित्रता के गीत गाते सुन पड़ते हैं। वे समझते है कि उनके बच्चे गलियों में निकम्मे फिरते हुए भी आचार मे किसी तरह गिर नहीं सकते। कितनी भारी भूल है। बच्चों को जब तक काम में नहीं लगाये रक्खा जायगा, तब तक उनके सदाचारी बने रहने की आशा रखना निराशा को निमन्त्रण देना होगा। काम में लगे हुए बच्चों को गाली-गलौज सीखाने का 'मौका' ही नहीं मिलता, वे अधःपतन के पाठ को सीख ही नहीं सकते।

इसीलिये ऋषियों ने वेदारम्भ-संस्कार के उपदेश में सबसे प्रथम उपदेश—'कर्म कुरु'—रक्खा था। 'काम करो, खाली मत रहो, अपनी शक्तियों का प्रतिक्षण संचय, सदुपयोग तथा सद्व्यय करते रहो।' जिन बालकों को गिरने का मौका मिल जाता है, उनका नाश, दुःख तथा आश्चर्य से, हमें, अपनी आँखों से, अपने सामने देखना पड़ता है। 'सैक्सुअल लाइफ़ ऑफ़ दी चाइल्ड' के लेखक ने एक बालक के विषय में लिखा है—

"मैं एक १४ वर्ष के बालक को जानता हूँ, जो लगातार गिरजे में जाता था और बड़ा मेहनती विद्यार्थी था। उसे अंग-भंग की बीमारी थी। उसकी माता बालक को दिखाने के लिए मेरे पास ले आई। परीक्षा करने पर मैंने देखा कि बालक को सुज़ाक की बीमारी थी। जब मैंने बच्चे की मा को सब-कुछ सच-सच कह दिया, तब उसकी माता मुझ से क्रुद्ध हो उठी, क्योंकि वह अपनी सन्तान के विषय में ऐसी बात सुन ही नहीं सकती थी। अधिक अन्वेषण करने पर मालूम हुआ कि तेरह वर्ष की अवस्था से भी पहले से वह बालक वेश्याओं के भी पास आता-जाता था।"

इस बालक का जो हाल था, इस तरह का हाल न-जाने कितने बच्चों का होगा, परंतु माता-पिता अपनी संतान के विषय में यह सब-कुछ सुनने के लिये तैयार नहीं होते और जब तक बच्चे का सम्पूर्ण नाश उनकी आँखों के सामने नहीं हो लेता, तब तक निश्चिन्त हुए बैठे रहते हैं!

इसी 'मौके' की सम्भावना को दूर करने के लिये गुरुकुलों के नियमों के अनुसार लड़कों का, लड़कियों के गुरुकुलों में, तथा लड़कियों का, लड़कों के गुरुकुलों में आना निषिद्ध ठहराया गया था। बुरे मौकों से बचने के विचार को दृष्टि में रखकर ही प्राचीन काल में गुरुकुलों की स्थापना जंगलों में की जाती थी। मौका मिलने पर रूप, रस, शब्द, गन्ध, स्पर्श सभी द्वारा मनुष्य की गिरावट होती है, इसलिये ब्रह्मचर्य-रक्षा का सबसे बड़ा साधन ऐसे मौकों से बचना है। प्राचीन शिक्षा-क्रम में तभी तो ब्रह्मचारी तथा आचार्य, दिन-रात, २४ घण्टे साथ-साथ जीवन व्यतीत करते थे; गिरावट के 'मौक़े' से ही बालक को बचाए जाने का प्रयत्न किया जाता था।

१. रूप

मनुष्य के मनोविकारों को जागृत करने में आँखों का हिस्सा बहुत बड़ा है, इसलिए संयमी मनुष्य के लिए इन पर नियन्त्रण रखने की बहुत आवश्यकता है। आजकल का शहरों का जीवन बालक तथा बालिकाओं के सम्मुख अधःपतन तथा नाश के दरवाजे खोल देता है। वे जिधर आँखें उठाते हैं, उधर ही उन्हें बलात्कार-पूर्वक खींच ले जानेवाले प्रलोभन उमड़ते हुए नज़र आते हैं। वे अपने को रोक नहीं सकते। प्रत्येक शहर नाटक तथा सिनेमाओं से भरा हुआ है। नाच, गीत, रंग, रूप—सब मिलकर नवयुवक पर आक्रमण करते हैं—बेचारा सामर्थ्य न

होने से दब जाता है। प्लेटो ने नाटकों के देखने के विषय में लिखा है कि उनके द्वारा मनुष्य पर कृत्रिम वस्तुओं का प्रभाव वास्तविक वस्तुओं की अपेक्षा अधिक होने लगता है। मनोवैज्ञानिक विलियम जेम्स ने इसी प्रकरण में एक रशियन महिला का उल्लेख किया है, जो नाटक के दृश्य में जाड़े से ठिठरते हुए मनुष्य को देखकर आँसू बहाती रही, परन्तु उसका घोड़ा तथा कोचवान नाटक-शाला के बाहर रूस के सख़्त जमा देनेवाले पाले में मरते रहे। नाच देखने का शौक़, योरप तथा भारत, दोनों जगह पर्याप्त मात्रा में है, परंतु इसके भयकर दुष्परिणामों का तरफ़ आँखें खोलकर नहीं देखा जाता। यह आँखवालों का अंधापन है। डा० केलोग 'प्लेन फैक्ट्स' के २२१ पृष्ठ पर लिखते हैं—

"आत्म-क्षय, रात्रि-जागरण, मध्य-रात्रि-भोजन, फैशनेबल और अनुचित ड्रेस का परिधान तथा शीत—इन दोषों के अतिरिक्त यह भी दिखाया जा सकता है कि नाचने से मनोभाव उत्तेजित हो जाते हैं और कुवासनाएँ जाग उठती हैं, जिनके कारण मनुष्य कुकर्मों में प्रवृत्त हो जाता है। ऐसे घृणित कृत्य आचार-शास्त्र को धक्का पहुँचानेवाले तथा व्यक्ति को शारीरिक और मानसिक उन्नति के घातक हैं।" चक्षुरिन्द्रिय का यह दुरुपयोग प्राचीन ऋषियों से छिपा न था। इसीलिए उन्होंने ब्रह्मचर्य के नियमों का वर्णन करते हुए—'नर्तनं गीतवादनम्'—इस प्रकार की आज्ञाओं में नाचने-गाने का सर्वथा निषेध कर दिया था।

ब्रह्मचर्य के नियमों में दर्पण देखने का भी निषेध है, इसका

यही कारण है कि दर्पण के उपयोग से कई नवयुवक अनुचित मानसिक भावों के शिकार बन जाते हैं। इन विषयों पर हेविलौक एलिस ने बड़े परिश्रम से अनुसंधान किये हैं। वह अपनी पुस्तक 'सेक्सुअल सिलेक्शन इन मैन' के १८७ पृष्ठ पर लिखते हैं—

"आजकल वेश्या-घरों तथा अन्य फैशनों की जगहों पर सर्वत्र दर्पणों का प्रयोग बहुतायत से पाया जाता है। भोले-भाले बालक तथा बालिकाएं अपने को दर्पण में देखकर अपने विषय में तरह-तरह की कल्पनाएँ करने लगते हैं और इस प्रकार दर्पण द्वारा पहले-पहल कुवासनाओं को सीख जाते हैं।"

क्या एलिस महोदय के कथन में किञ्चिन्मात्र भी संदेह है? दर्पण का प्रयोग फैशन के लिए बढ़ता चला जा रहा है। युवक लोग शीशे में चेहरे की एक-एक रेखा को देखते हैं। उनके हृदय में तरह-तरह की भावनाएँ उठती हैं। उन सबके होते हुए ब्रह्मचर्य की रक्षा हो सकना कठिन है।

२. शब्द

मनुष्य के अनुचित मानसिक आवेगों को रोकने के लिये शास्त्रों में नृत्य का निषेध किया गया है। नृत्य के साथ-साथ कान के व्यसन, गीत आदि में मस्त रहने की भी ब्रह्मचर्य के नियमों में मनाही है। गाने-बजाने का अधिकार ब्रह्मचारी को नहीं दिया गया। इसका कारण यही है कि गाना-बजाना ब्रह्मचर्य में हानिकर है। इससे मनोविकारों का उत्पन्न होना

स्वाभाविक है। हेविलौक एलिस ने गाने तथा मानसिक विकारों की उत्पत्ति का सम्बन्ध बड़ी सफलता से अपनी पुस्तक 'सैक्सुअल सिलेक्शन इन मैन' में दर्शाया है। वे उस पुस्तक के १२२ पृष्ठ पर लिखते हैं—

"इसमें कोई सन्देह नहीं कि भिन्न-भिन्न प्राणियों में—विशेष रूप से कीड़ों, पतंगों तथा पक्षियों में—संगीत का उद्देश्य 'नर' का 'मादा' को परस्पर एक दूसरे की तरफ लुभाना ही होता है। डार्विन महोदय ने इस दृष्टि से बहुत अन्वेषण किए, और वह इसी सिद्धांत पर पहुँचे। इस विषय पर हर्बर्ट स्पेन्सर तथा उनके अनुयायियों ने शंका उठाई है, परन्तु वर्तमान गवेषणाओं से यह बात स्थिर रूप से सिद्ध हो चुकी है कि मधुर शब्दों तथा गीतों का परिणाम पक्षियों में नर और मादा का मिलना ही होता है। गीत तथा प्रेम के सम्बन्ध को सिद्ध करने के लिये इतना ही पर्याप्त है कि प्राणि-जगत् में नर तथा मादा में से एक ही को मधुर स्वर दिया गया है, दोनों को नहीं। इसका उद्देश्य मानसिक प्रसुप्त भावों को उद्बुद्ध करना नहीं, तो क्या है।"

जिस प्रकार पशुओं में गाने तथा प्रेम के भाव प्रकट करने का भारी सम्बंध पाया जाता है, उसी प्रकार मनुष्यों में भी यह नियम काम करता दिखाई देता है। एलिस महोदय पशु-पक्षियों में इस नियम को दर्शाकर मनुष्यों के विषय में लिखते हैं—

"जब हम इस बात पर विचार करते हैं कि पशु-पक्षियों में ही नहीं, अपितु मनुष्यों में भी, यौवनावस्था में, ग्रीवा के उस भाग

की रचना में भारी परिवर्तन उत्पन्न होते हैं, जिसका गाने में अधिक उपयोग होता है, तब इसमें तनिक भी सन्देह नहीं रहता कि गाने का यौवन के मानसिक भावों के साथ बड़ा भारी सम्बन्ध है।

"इसी सम्बन्ध को दृष्टि में रखते हुए, प्लेटो ने अपने काल्पनिक राज्य में, किस प्रकार की गान-विद्या को आज्ञा देनी चाहिए, इस प्रश्न पर विचार किया है। यद्यपि प्लेटो ने यह नहीं कहा कि संगीत का सदा ही मनुष्य पर उत्तेजक प्रभाव होता है, तथापि वह विशेष प्रकार के संगीत का मानसिक विकारों को उत्पन्न करने के साथ सम्बन्ध अवश्य मानता है। ऐसे संगीत से शराबीपन, औरतपन और निकम्मापन बढ़ता है; और प्लेटो की सम्मति में, पुरुषों का तो कहना ही क्या, स्त्रियों को भी ऐसा संगीत नहीं सिखाना चाहिए। प्लेटो दो ही प्रकार के संगीत सिखाने के हक में है—युद्ध का अथवा प्रार्थना का।"

जब हम पशुओं, पक्षियों तथा मनुष्यों में सर्वत्र संगीत का सम्बन्ध विषय की वासना को जगाने के साथ ऐसा प्रबल देखते हैं, तब प्राचीन ऋषियों का ब्रह्मचारियों के लिये गाने-बजाने का निषेध करना ही उचित प्रतीत होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि गाने और गाने में भेद है। प्रत्येक गाना विषय-विकार को उत्पन्न करनेवाला नहीं होता। इसलिये प्रत्येक प्रकार का गाना भी ब्रह्मचारी के लिये रोका नहीं गया। सामवेद के गाने का तो ब्रह्मचारी के लिये विधान ही किया गया है। क्योंकि, अधिकांश,

गीत का सम्बन्ध विषय-वासना के साथ है, इसीलिये ब्रह्मचारियों के लिये गाने-बजाने का निषेध करना पूर्ण बुद्धिमत्ता का कार्य है, इसमें किसी को सन्देह नहीं हो सकता।

३. गन्ध

नासिका तथा जनन-शक्ति में घनिष्ट सम्बन्ध है। प्राचीन रोम के लोग इस सम्बन्ध से भली प्रकार परिचित थे, वर्तमान काल में भी इनके पारस्परिक सम्बंध के विषय में विश्वास पाया जाता है। यौवन-काल में लड़कों तथा लड़कियों को नकसीर बहुत फूटने का कारण, नासिका तथा जननेन्द्रिय का सम्बंध ही है। इसी समय नासिका के दूसरे रोग भी उठ खड़े होते हैं। अनेक बार नकसीर को, जनन-प्रदेश में बर्फ से ठण्डक पहुँचा-कर, बन्द किया गया है। कमज़ोर पुरुषों तथा स्त्रियों में हस्त-मैथुन अथवा सम्भोग के बाद नकसीर फूटती देखी गई है। कई बार वीर्य-क्षय के पीछे नासिका-द्वार का अवरोध तथा छींक आना आदि देखा गया है। इस विषय पर कई लेखकों ने प्रकाश डाला है। एलिस महोदय एक स्त्री का उल्लेख करते हैं, जिसमें उपर्युक्त कथन पूरा-पूरा घटता था। फोरो ने एक स्त्री के विषय में लिखा है, जिसे विवाह के बाद नाक की बीमारियों की लगातार शिकायत रहने लगी थी। जे० ऐन्० मैकेन्ज़ी ने अनेक दृष्टान्त देते हुए लिखा है कि नव-विवाहित पति-पत्नियों में ज़ुकाम के बहुधा पाए जाने का मुख्य कारण भी यही है।

इस गिरावट के जमाने में परमात्मा की दी हुई प्रत्येक वस्तु का दुरुपयोग हो रहा है। बाजार तरह-तरह के गन्धों से भरा हुआ है। कस्तूरी का बहुत प्रयोग दिखाई देता है। पशुओं के शरीर से बने हुए गन्ध उत्तेजक होते हैं, अत. जंगली लोगों में उनका बहुत प्रचार था, परन्तु ज्यों-ज्यों मनुष्य सभ्य होता जाता है, त्यों-त्यों पशुओं के शरीर की गन्ध के स्थान में फूलों की गन्ध का उपयोग बढ़ता जा रहा है। फूलों से जो गन्ध बनते हैं, वे भी मनुष्य की कुवासनाओं को उद्बुद्ध करते है, क्योंकि उनकी रचना में वे ही पदार्थ होते हैं; जो कस्तूरी आदि पशुओं के गन्ध मे पाये जाते हैं। पशुओं से अथवा फूलों से, दोनों ही से, निकला हुआ गन्ध सर्वथा समान है और दोनों के दुष्परिणाम ब्रह्मचर्य के लिए भयकर हैं।

एलिस महोदय ने 'जनरल ऑफ साइकोलौजिकल मैडिसिन' मे से एक उद्धरण दिया है, जिसका आशय यह है कि बनावटी गन्धों का प्रयोग सदाचार के लिए अत्यत हानिकारक है और सदाचार का जीवन-व्यतीत करने के लिए फूलों से बचना ही उत्तम है। इसी कारण प्राचीन काल मे ब्रह्मचर्य के नियमों का उपदेश देते हुए आचार्य गंध-फूल-माला आदि उत्तेजक पदार्थों से बचने का आदेश करता था। आजकल के स्कूलों तथा कालेजों के विद्यार्थी गंधों का अत्यधिक प्रयोग करते हैं। उन्हें समझना चाहिये कि यह ब्रह्मचर्य के नियमो के प्रतिकूल है, सादा जीवन तथा पवित्र जीवन ही आदर्श जीवन है!

४. स्पर्श

वेन महोदय अपनी पुस्तक 'इमोशंस एण्ड विल' में लिखते हैं कि 'स्पर्श, प्रेम का आदि और अन्त है।' स्पर्श मनोभावों को जागृत करने का सबसे बड़ा साधन है—इस बात को भारत के ऋषि, योरप के फ़ीरी, मैंटेगेज़ा, पैटा तथा एलिस, सभी एक स्वर से स्वीकार करते हैं। स्पर्श का मनुष्य को उत्तेजित करने में इतना भारी असर है कि कई पश्चिमीय लेखकों की सम्मति में वर्तमान सभ्यता की बढ़ती के साथ-साथ साधारण-से स्पर्श को भी बुरा समझा जाने लगेगा। निस्सन्देह सभ्यता में ऐसे युग का आना सभ्यता की गिरावट का ही सूचक होगा, परंतु, यदि ऊँची दृष्टि से देखने पर मनुष्य उन्नति के स्थान में अवनति ही कर रहा हो, तब, ऐसे युग का आ पहुँचना आश्चर्य की बात भी न होगी।

डॉ० ब्लौच अपनी पुस्तक 'दि सैक्षुअल लाइफ़ ऑफ़ आवर टाइम' के ३० पृष्ठ पर लिखते हैं—

"स्पर्श से मानसिक विकार उत्पन्न हो जाने का मुख्य कारण यह है कि त्वचा के संवेदना-तन्तुओं की रचना तथा उत्पादक अंगों के तन्तुओं की रचना एक ही पदार्थ से हुई है, इसलिए प्राणिमात्र के सब अवयवों की अपेक्षा त्वचा का असर मानसिक दुर्भावों को जागृत करने में तत्काल होता है। जो व्यक्ति स्पर्श की भयानक आँधी से बच जाता है, वह इसके उन दुष्परिणामों से भी बच जाता है, जो उसे अन्धा बना देनेवाले होते हैं।"

बालक तथा बालिकाओं में प्रायः एक दूसरे को गुदगुदी करने की आदत देखी जाती है। गुदगुदी से त्वचा के उत्तेजन द्वारा मनोविकृति का उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है। बच्चों को इस आदत से बचाना चाहिए। अनावश्यक स्पर्श का कभी न होने देना ही ब्रह्मचर्य का नियम है।

कोमल बिस्तरों का भी ब्रह्मचर्य पर बुरा असर होता है। बच्चों के विषय में डॉ० ब्लॉच ने बहुत अन्वेषणा की है। उनका कथन है कि बच्चों को गद्देदार बिस्तरों पर सोने देने से उनके हस्त-मैथुनादि अनेक पैशाचिक दुर्व्यसनों को सीखने की सम्भावना है। इसीलिए ब्रह्मचर्य के नियमों में—'उपरि शय्यां वर्जय'—कोमल, गद्देदार विस्तरों पर सोने का निषेध किया गया है।

एलिस महोदय अपनी पुस्तक 'मॉडेस्टी, सैक्सुअल प्रिकौसिटी, ऑटो-इरौटिज्म' के १७५ पृष्ठ पर लिखते हैं—

"कई लेखकों ने लिखा है कि घोड़े की सवारी ब्रह्मचर्य के लिए ठीक नहीं है। घोड़े की सवारी से वीर्य स्खलित हो जाने का ज्ञान कैथोलिक पादरियों को भी था। पुरुषों तथा स्त्रियों में रेलगाड़ी की गति से भी दुष्प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है, यह बहुतों का अनुभव है।"

शास्त्रों में, ब्रह्मचारी को उपदेश देता हुआ आचार्य कहता है—'गवाश्वहस्त्युष्ट्रादि यानं वर्जय'—बैल, घोड़े, हाथी, ऊँट आदि की सवारी मत करो। कई जगह तो सवारी-मात्र का निषेध किया गया है। ब्रह्मचारी को, जिस तरह से भी हो सके, ब्रह्मचर्य के

खण्डित होने से बचाया जाय, यही भाव प्राचीन गुरुओं के मस्तिष्क में काम करता रहता था। स्पर्श के विषय में लिखा है—

'अकामतः स्वयमिन्द्रियस्पर्शेन वीर्यस्खलनं विहाय वीर्यं शरीरे संरक्ष्योर्ध्वरेताः सतत भव'—इन्द्रिय-स्पर्श कभी न करते हुए वीर्य-रक्षा करो।

इन उपदेशों को पढ़कर प्राचीन गुरुओं और आधुनिक गुरुओं में भेद स्पष्ट दीख पड़ता है। क्या आजकल, गुरुकुलों के आचार्यों को छोड़कर, किसी स्कूल अथवा कालेज का प्रिन्सिपल जनता के सम्मुख खड़े होकर अपने शिष्य को यह उपदेश देने का साहस कर सकता है कि 'ऐ बालक ! इस संस्था मे वीर्य-रक्षा करना तेरे जीवन का लक्ष्य होगा !'—नहीं ! शिक्षा का इसे उद्देश्य नहीं समझा जाता। पढ़ा-लिखाकर, रोटी कमाने लायक़ बना देने में स्कूल का काम ख़त्म हो जाता है। प्राचीन गुरुकुलों का उद्देश्य ही पृथक् होता था। बालक को सयमी, सदाचारी बनाना उनका ध्येय था। पुस्तकें पढ़ाई जाती थीं, परन्तु आत्मिक उन्नति को सम्पूर्ण शिक्षा का लक्ष्य समझा जाता था। यह भेद प्राचीन तथा आधुनिक शिक्षकों के नामों में भी दीख पड़ता है। आधुनिक शिक्षक का नाम 'हेडमास्टर' या 'प्रिन्सिपल' है। 'हेडमास्टर' का अर्थ है—'मालिक'। 'प्रिन्सिपल' का अर्थ है—'मुखिया'। जिन्हें अपने रोब जमाने से छुट्टी न मिलती हो, जो 'मालिकपन' और 'मुखियापन' के विचारों के नीचे दबे हुए हों, वे आचार की देख-रेख कब करेंगे!

प्राचीन शिक्षक के लिए शब्द ही 'आचार्य' का व्यवहृत होता था। शिक्षक, मुखिया (गुरु) अवश्य था, परन्तु वह 'आचार्य' भी था— सदाचार की शिक्षा देना उसका प्रधान कर्तव्य था।

५. रस

रस में कई विषय मिले हुए हैं। गन्ध, स्पर्श तथा रूप का भी इसमें समावेश है। गन्धादि विषयों का सेवन ब्रह्मचारी के लिए हानिकर है, अतः रसीले पदार्थों का सेवन हानिकर स्वतः हो जाता है। शराब, चाय, काफी, तम्बाकू तथा मिठाइयों का व्यसन सभ्यता की बढ़ती के साथ-साथ बढ़ता चला जा रहा है। लोग पेटू होते जा रहे हैं। इन सबका ब्रह्मचर्य पर बहुत बुरा असर होता है।

शराब का जीवन के सार-तत्त्वों को बिगाड़ने में जो हाथ है, उसे दर्शाने के लिए किसी डॉक्टर का प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं। शराबी का नशे में अपने को भूलकर सदाचार के क्षेत्र से कोसों दूर चला जाना रोज़ की घटना है। हम इसके विषय में कुछ न लिखना ही सब-कुछ लिख देने के बराबर समझते हैं। चाय तथा काफी के भयंकर दुष्परिणामों से सब-साधारण परिचित नहीं हैं। हमें पूर्ण विश्वास है कि अनेक व्यक्ति चाय तथा काफी के बुरे परिणामों से अपरिचित होने के कारण ही उनका उपयोग करते हैं। यथार्थ बात के ज्ञात होते ही वे इन्हें छोड़ने के लिए उद्यत हो जायँगे। डॉ० ब्लौच का कथन है—

"चाय, काफी तथा मोरफ़ीन को अधिक मात्रा में लेने से मनुष्य नपुंसक हो जाता है। ड्यूप्री ने परीक्षण करके देखा है कि कई लोग जो दिन में ५-६ बार काफ़ी पीते थे, नपुंसक हो गये। काफी छोड़ देने से वे ठीक हो जाते और शुरू कर देने से फिर नपुंसक हो जाते थे।"

तम्बाकू के विषय में डॉ० कैलॉग 'प्लेन फैक्ट्स' में लिखते हैं—

"मनुष्य के आचार पर तम्बाकू का क्या असर होता है, इस बात को बहुत थोड़े लोग जानते हैं। बचपन में इस दुर्व्यसन के लग जाने से शीघ्र ही कुवासनाएँ प्रदीप्त हो उठती हैं और कुछ ही वर्षों में सदाचारी तथा पवित्र युवक को काम-वासनाओं का ज्वालामुखी बना देती है। उसके अन्तःकरण की धधकती हुई कुवासनाओं की ज्वालाओं से अश्लीलता तथा दुराचार का काला धुआँ निकलने लगता है। देर तक तम्बाकू का प्रयोग करते रहने से नपुंसकता आ पहुँचती है।"

मिठाइयों का शौक कुप्रवृत्तियों का कारण और परिणाम दोनों ही है। डॉ० क्लौच 'सैक्सुअल लाइफ ऑफ् आवर टाइम' के ३४ पृष्ठ पर लिखते हैं :—

"मिठाइयों के लिए शौक का कुप्रवृत्तियों के साथ सम्बन्ध है। जो बच्चे मिठाइयों के बहुत शौक़ीन होते हैं, उनके गिरने की बहुत अधिक सम्भावना बनी रहती है और वे दूसरे बच्चों की अपेक्षा हस्त-मैथुनादि कुकर्मों की तरफ अधिक झुकते हैं।"

पेटूपन आजकल की नई बीमारी है। इस कथन में कोई अत्युक्ति नहीं कि वर्तमान युग में भूख से इतने लोग नहीं मरते, जितने पेटूपन से मरते हैं। वीर्य-रक्षा न करने का आवश्यम्भावी परिणाम पेटूपन है। दुराचारी व्यक्ति का रसनेन्द्रिय पर वश नहीं रहता। पेट भरे रहने पर भी उसकी भूख नहीं मिटती और वह सदा आवश्यकता से अधिक खा जाता है। उपवास करना उसके लिये असम्भव-सा जान पड़ता है। डॉ० कैलॉग लिखते हैं कि पेटूपन सदाचार का शत्रु है। अधिक खा जाने से वीर्य-नाश होना निश्चित है, इसलिये जितनी भूख लगी हो, उससे कुछ कम ही खाना चाहिए।

ब्रह्मचर्य के प्राचीन नियमों में इस सिद्धान्त को प्रधानता दी गई थी कि हमारा मन भोजन से बनता है। उपनिषद् में लिखा है—'अन्नमयं हि सौम्य मनः'। सात्विकाहार के लिये जगह-जगह प्रेरणा की गई है। ब्रह्मचारी को गुरुकुल में प्रविष्ट करता हुआ आचार्य कहता है:—तैलाभ्यङ्गविमर्दनात्यम्लाति-तिक्तकषायक्षाररेचनद्रव्याणि मा सेवस्व'—बहुत खट्टे, तीखे, नमकीन पदार्थ मत खाना, राजसिक भोजन से कुसंस्कार जाग उठते हैं। बहुत बार भोजन करने का निषेध करते हुए प्रातः-सायं दो ही बार ब्रह्मचारी के लिये भोजन का विधान किया गया है। मनुस्मृति में ब्रह्मचर्य के प्रकरण में ब्रह्मचारी को नीरोग तथा स्वस्थ रहने के लिये किस प्रकार का भोजन करना चाहिए, इस पर लिखा है—

"सायं प्रातर्द्विजातीनामशनं स्मृतिनोदितम् ।
नान्तरे भोजनं कुर्यादग्निहोत्रसमो विधिः ॥
अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम् ।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत् "

वर्तमान गवेषकों के उक्त अनुभवों से स्पष्ट है कि ऋषियों ने ब्रह्मचर्य के लिये जिन नियमों का निर्माण किया था, उनके आधार में बड़े-बड़े मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त काम कर रहे थे ।

उपसंहार

ब्रह्मचर्य का सन्देश एक महान् सन्देश है—यह जीवन का, अमरता का सन्देश है। यह प्राचीन भारत का सन्देश है। हिमालय के गगन-भेदी शिखर से, गंगा और यमुना की अनवरत उठनेवाली ध्वनि से, समुद्र की अथाह नीरवता से, काननों की दुर्भेद्य निर्जनता से तपस्यामय जीवन बितानेवाले प्राचीन ऋषियों का संदेश-मुझे सुनाई दे रहा है,—और वह है, 'ब्रह्मचर्य'! इस संदेश को सुननेवाले आत्माओं की भारत-माता को ज़रूरत है।

'ब्रह्मचर्य' एक चार अक्षरों का छोटा-सा शब्द है, परन्तु इसमें जो भाव आ जाते हैं, उनका सौवाँ हिस्सा भी इन पृष्ठों में नहीं लिखा जा सका! वीर्य-रक्षा 'ब्रह्मचर्य' का स्थूल रूप है; 'ब्रह्मचर्य' वीर्य-रक्षा से बहुत-कुछ ज्यादा है—बहुत-कुछ ज़्यादा! 'ब्रह्मचर्य' एक व्यापक शब्द है। 'ब्रह्मचर्य' का अर्थ है—शक्तियों का संग्रह करना, उन्हें बिखरने न देना, उन्हें अपनी उन्नति में लगाना। व्यक्ति को ही नहीं, समाज को भी ब्रह्मचर्य की ज़रूरत है। हमारा समाज बिखरा हुआ है, वह शक्ति-हीन हो चुका है—इसका यही अभिप्राय है कि समाज में ब्रह्मचर्य की शक्ति नहीं रही। व्यक्तियों को, समाजों को, देशों को, ब्रह्मचर्य की ज़रूरत है—बड़ी भारी ज़रूरत है, क्योंकि ब्रह्मचर्य से ही शक्ति का संचय हो सकता है। इस

समय जब कि चारों तरफ़ असमर्थता, शक्ति-हीनता तथा क्षय के लक्षण दिखाई दे रहे हैं, जब कि जीवन की बत्ती वेग से जल रही है, क्योंकि वह शीघ्र ही बुझा चाहती है—इस समय उत्साह-हीन, जीवन-हीन, निराश समाज के लिये केवल एक संदेश है—'ब्रह्मचर्य' ! 'ब्रह्मचर्य' !! 'ब्रह्मचर्य' !!!—'चौमुखा-ब्रह्मचर्य'—केवल शरीर का नहीं, मन का, आत्मा का, समाज का, देश का—सबका 'ब्रह्मचर्य'।

नवयुवको ! इस संदेश को कान खोलकर सुनो। इस विचार में पागल हो जाओ, तुम पागल होते हुए भी सही दिमाग़-वालों से कहीं अच्छे होगे ! शक्ति को बिखरने मत दो, नहीं तो पीछे से पछताओगे। इन पृष्ठों में ब्रह्मचर्य के केवल एक स्वरूप पर ही लिखा गया है, क्योंकि इस समय शायद इसी की सबसे ज्यादा ज़रूरत है। वीर्य-रक्षा करो, क्योंकि वीर्य-रक्षा करना ब्रह्मचर्य के जीवन के लिये पहला क़दम है। ख़ुद मत गिरो, और दृढ़ संकल्प कर लो कि अपने आस-पास के किसी नौजवान को गिरने नहीं दोगे। हरेक नौजवान भारत-माता का लाल है; माता को उसकी ज़रूरत है; प्यारो ! नौजवान तो भारत-माता की सम्पत्ति हैं, उन्हे लुटने मत दो।

मैं जानता हूँ, नवयुवक इस संदेश के लिये तरस रहे हैं। मेरे पास नवयुवकों की जो चिट्ठियाँ आई पड़ी हैं, उनसे मुझे पूरा विश्वास हो गया है कि युवक इस संदेश के लिये लालायित हैं। एक युवक हज़ारीबाग़ से अपनी चिट्ठी में लिखता

है—'मैंने आपकी अँगरेजी में लिखी ब्रह्मचर्य-विषयक पुस्तक को पढ़ा, और बार-बार पढ़ा। इसे पढ़कर मेरी आँखे खुलीं। हाय! मैं कितना अभागा था, मुझे तो अब तक कुछ मालूम ही न था। मैंने आपकी पुस्तक अपने सब छोटे भाइयों, भानजों और भतीजों को मँगाकर दी है। मैं चाहता हूँ कि यह पुस्तक हर-एक हाई-स्कूल में हर-एक लड़के के लिये पढ़ना लाज़मी हो जाय।' दूसरा युवक अकोला से लिखता है—'मैंने ब्रह्मचर्य पर ऐसी पुस्तक अब तक नहीं पढ़ी थी। मैं ऐसी पुस्तक की ही तलाश में था। आपकी पुस्तक को पढ़ने से मालूम होता है कि आपके हृदय में नवयुवकों के लिए तड़पन है। मैं एक विषम समस्या में फँसा हुआ हूँ। आप कृपा कर मुझे इससे से निकालिये। मेरे पिता बड़े धनी हैं। वह मुझे जबर्दस्ती मिठाइयाँ खिलाते और चाय पिलाते हैं—मैं इनकार करूँ, तो वह मुझे धमकाते हैं। मैं जानता हूँ कि इन चीजों के खाने से मेरे स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ता है, पर वह नहीं मानते। क्या कृपा कर आप उन्हें इस विषय में लिखकर समझाने का कष्ट उठा सकेंगे!' एक और युवक बम्बई से लिखता है—'मेरा एक मित्र ५-६ वर्ष से बुरी आदतों का शिकार है। अचानक आपकी पुस्तक उसके हाथ में पड़ गई। इसे पढ़ने पर वह प्रतिज्ञा करता है कि आगे से वह कभी अपने आत्मा को गिरने नहीं देगा। पीछे जो कुछ हुआ, उस पर वह पछताता है। क्या आप उसके आत्मा को शांति देने के लिये नीचे के पते पर पत्र

लिख सकेंगे ?' ऐसा ही एक युवक लाहौर से लिखता है—'मैंने आपकी पुस्तक पढ़ी। इसने मेरे जीवन में क्रान्ति मचा दी है और मुझमें आश्चर्य-जनक परिवर्तन ला दिया है। ओह! मैं कितना चाहता हूँ कि यह पुस्तक कुछ पहले मिल गई होती!'—ये तथा ऐसे ही सैकड़ों पत्र मेरे सामने पड़े हैं। क्या इनके होते हुए भी मैं यह न समझूँ कि नवयुवक इस सन्देश को सुनने के लिए तरस रहे हैं। नवयुवको! इस सन्देश को सुनो, यह मेरा सन्देश नहीं, ऋषियों का सन्देश है। इस सन्देश की गूँज से देश का कोना-कोना गुंजा दो। प्रण कर लो कि स्वयं ब्रह्मचारी रहोगे और जिस युवक के सम्पर्क में भी आओगे, उसके कान में इस मन्त्र को जरूर फूँक दोगे!

इससे पहले कि मैं पाठकों से विदा लूँ, एक बात लिख देना आवश्यक समझता हूँ। ब्रह्मचर्य की चर्चा जितनी पञ्जाब तथा युक्तप्रान्त में है, इतनी शायद अन्यत्र कहीं नहीं, परन्तु मुझे दुःख है कि इन्हीं प्रान्तों के लोगों में ब्रह्मचर्य के विषय मे ऐसे भ्रम-पूर्ण विचार फैले हुए हैं, जिनका निराकरण करना ब्रह्मचर्य की महिमा के गीत गाने की अपेक्षा भी अधिक आवश्यक प्रतीत होता है। सर्व-साधारण में यह विचार घर कर चुका है, और दिनोंदिन करता चला जा रहा है, कि ब्रह्मचारी और पहलवान का एक ही अर्थ है। वे कहते हैं, ब्रह्मचर्य सब रोगों की एक महौषध है। किसी को जुकाम हुआ नहीं कि झट उन्होंने बेचारे रोगी के आचार पर संदेह किया नहीं!

जैसा पहले भी लिखा जा चुका है, ऐसे लोगों के कारण ही 'ब्रह्मचर्य' बदनाम हो चुका तथा हो रहा है। ब्रह्मचर्य के महान् विषय पर बोलने का अधिकार उन्हीं लोगों को है, जिन्होंने इस विषय को भली भाँति समझ लिया हो। ब्रह्मचर्य का नाम लेकर चिल्लानेवालों में से बहुत-से ब्रह्मचर्य की महिमा को बढ़ाने के स्थान पर उसे घटाने में सहायक बन रहे हैं, क्योंकि, स्मरण रहे, किसी कार्य की हानि अन्य उपायों से इतनी नहीं होती, जितनी उसके स्वरूप को न समझकर उसके साथ अन्धे प्रेम से!

इसमें सन्देह नहीं कि ब्रह्मचर्य से शारीरिक वृद्धि होती है। इसमे भी सन्देह नहीं कि ब्रह्मचर्य की शक्ति बड़ी है। परन्तु यह बात बिल्कुल ग़लत है कि ब्रह्मचारी एक भारी-भरकम पहलवान ही होता है। हाँ! ब्रह्मचर्य और दुर्बलता का साथ नहीं; दुर्बलता का कई मौक़ों पर अर्थ ही ब्रह्मचर्य का अभाव होता है; परन्तु इससे यह परिणाम निकालना कि ब्रह्मचारी पहलवान ही होता है, सर्वथा भ्रम-मूलक है। ब्रह्मचर्य का अर्थ शक्ति है, क्रिया-शीलता है, तत्परता है, उत्साह है, ओजस्विता है, सहन-शीलता है। इसका अर्थ मोटापन नहीं, पहलवानी नहीं, शरीर में मांस या वजन का बढ़ जाना ही नहीं। वे लोग बड़ी भूल करते हैं, जो किसी व्यक्ति को कार्य-शील तथा स्वस्थ देखकर भी केवल उसके पहलवान न होने के कारण अपने दिमाग़ में तरह-तरह की कल्पनाएँ करने लगते हैं। वे ब्रह्मचर्य का नाम लेते हैं, परन्तु उसके रहस्य को नहीं समझते।

मोटे आदमियों की संख्या दुनिया में कम नहीं। बैठे रहने से मुटापे को छोड़कर और क्या आयगा? परन्तु इससे मोटे आदमी को आदर्श ब्रह्मचारी समझ लेना ब्रह्मचर्य के तत्त्व को ही न समझना है। अथर्ववेद के ११वें काण्ड का ५वाँ सूक्त 'ब्रह्मचर्य-सूक्त' है। इस सूक्त में जहाँ पर भी ब्रह्मचर्य का नाम आया है, वहाँ साथ में 'तप' का नाम भी मौजूद है। २६ मंत्रों के इस सूक्त में १५ वार 'तप' शब्द को दोहराया गया है। 'स आचार्यं तपसा पिपर्ति', 'ब्रह्मचारी घर्मं वसानस्तपसोदतिष्ठत्', 'रक्षति तपसा ब्रह्मचारी'—इस प्रकार प्रत्येक मन्त्र में तप की मुहारनी जपी गई है। तप से मुटापे का कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिए ब्रह्मचर्य से जो लाभ होते हैं, उनके विषय में सोचते हुए सदा ध्यान रखना चाहिये कि ब्रह्मचर्य शारीरिक स्वास्थ्य देता है, सहन-शक्ति, उत्साह तथा साहस देता है; ब्रह्मचर्य से मानसिक शक्तियों का विकास होता है, आत्मा उन्नति के मार्गपर चलने लगता है; ब्रह्मचर्य का यही दावा है—दूसरा कुछ नहीं।

इसके अतिरिक्त यह भी न भूलना चाहिये कि संसार में किसी भी बात के अनेक कारण हो सकते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि ब्रह्मचर्य स्वास्थ्य देने तथा जीवनी-शक्ति के सञ्चार करनेवाला बड़ा भारी कारण है, शायद सबसे बड़ा, परन्तु यह समझ बैठना कि यही एक कारण है, और कोई कारण है ही नहीं, बड़ी भारी भूल है। संसार में भयंकर-से-भयंकर रोग हैं, और कई तरह

केई रोग हैं, छूत से लग जानेवाले रोग भी हैं, ब्रह्मचारी तथा अब्रह्मचारी, दोनों को ही वे सता सकते हैं। कई रोग माता-पिता से आ सकते हैं और आजन्म-ब्रह्मचर्य भी उन्हें दूर नहीं कर सकता। कई लोग सब नियमों का पालन करते हुए भी दुबले-पतले होते हैं, वे ही अचानक सम्पत्ति मिल जाने पर हृष्ट-पुष्ट, तरोताज़े हो जाते हैं। कहीं हवा ख़राब, कहीं पानी ख़राब, कहीं भोजन ख़राब, कहीं निर्धनता—भिन्न-भिन्न कारण संसार मे काम करते हैं, परन्तु बहुधा परिणाम एक ही पाया जाता है। इसलिये 'ब्रह्मचर्य' के गीत गानेवाले को सदा स्मरण रखना चाहिये कि वह जब 'ब्रह्मचर्य' शब्द का प्रयोग वीर्य-रक्षा के अर्थों में करता है, तब वह जीवनी-शक्ति के केवल एक कारण पर ही विचार कर रहा होता है, चाहे वह कारण कितना ही महान् क्यों न हो। यही दृष्टि वास्तविक है, सत्य है!—हाँ, इसमें संदेह नहीं कि जीवन के सम्बन्ध में जो नियम काम करते हैं, उनमें सबसे बड़ा नियम ब्रह्मचर्य है, यही भारत के प्राचीन तपस्वियों का दावा है, और यही इस युग में नव-जीवन का संचार करनेवाले आदित्य-ब्रह्मचारी ऋषि दयानन्द का सन्देश है!

19.—Psychology of Sex
20.—Sexual Selection in Man
21. Foote, Dr.: Home Cyclopaedia
22. Geddes & Thomson : The Evolution of Sex
23. Grey : Anatomy
24. Gullick, Luther H. Dr. : Dynamics of Manhood
25. Hall, Winfield S. : From Youth into Manhood
26 —Reproduction & Sexual Hygiene
27. Halliburton : Physiology
28. James, William : Principles of Psychology
29.—Varieties of Religious Experiences
30. Kellog, Dr. : Living Temple
31.—Plain Facts
32. Kieth, Dr. : Seven Studies for Youngmen
33. Lowson : Text-Book of Botany
34. Madras Publication : The Sexual Science
35. Moll, Albert : Sexual Life of the Child
36. Macfaden : Encyclopaedia of Physical Culture
37.—Manhood and Marriage
38. Reeder, David H. : Sex Lessons of a Physician
39. Shelling : Natural Philosophy
40. Stall, Dr. What a Young Boy Ought to Know
41.—What a Young Husband Ought to Know
42. Stopes Marie : Married Love

इस पुस्तक पर कुछ सम्मतियाँ

BOMBAY CHRONICLE: How many youngmen have not cried in the agony of shame and self-pity, "Oh, if I could get this knowledge in my early daya." But it is never too late to mend and to such youngmen this excellent book will give a new hope as it will be a timely warning to those who are still in innocent ignorance. It should be translated in every Indian language, for it is a book which every youngman and woman should read.

THE VEDIC MAGAZINE: The learned author undertakes to address youngmen on a most delicate topic, viz, that of sexuality. He takes the greatest care to avoid the possibility of any immoral association arising from a perusal of this book... The writer is an advocate of Brahmacharya the cause of which he pleads with convincing force Youngmen with a serious outlook on life will necessarily be benefitted by a study of Prof. Satyavrata's book.

THE STUDENT: The author has indeed rendered a very valuable service to the student community of India particularly, in writing this highly useful and interesting book The very first chapter puts forth very lucidly the circumstances which necessitated such a task being undertaken. If seriously studied the book is sure to yield immense good to the reader and repay more than its cost The very fact that the book contains a foreword from the pen of no less a person than Swami Shraddhanand is a very strong recommendation in itself.

PRATAP. The learned author has ably thrown a flood of light in this book on the most difficult and important subject of Brahmacharya It contains thirteen instructive chapters, each full of practical lessons on Brahmacharya. The book is immensely useful to youngmen for whom it is intended. The speciality of the book lies in its charming and captivating style which makes it a very interesting and delightful reading.

चाँद—इसमें सन्देह नहीं कि आचार्य श्रीसत्यव्रत जी ने इस पुस्तक को लिखकर वास्तव में मातृ-भूमि की एक महान् सेवा की है। आपने एक सर्वोपकारी विषय को मातृ-भाषा में प्रकट करके प्रेम-रज्जु में गुँथे, अबोध दम्पति को वीर्य-रक्षा का महत्त्व दिखाकर—ब्रह्मचर्य की महिमा की ओर उनका व्यसनासक्त चित्त आकर्षित किया है और 'एक नारी ब्रह्मचारी' की कहावत को चरितार्थ किया है। इस कार्य के लिये अध्यापक महोदय धन्यवाद के पात्र हैं।.....कहने का तात्पर्य यह है कि इस पुस्तक में पाँचों ज्ञानेन्द्रियों द्वारा होनेवाले प्रभावों का वर्णन करते हुए हमारे ऋषियों द्वारा वर्णित तत्सम्बन्धी संयमों का बड़ी योग्यता से प्रतिपादन किया है।...पुस्तक अपने ढंग की अनूठी है। इसका चौथा अध्याय मनन करने योग्य है। इसमें वीर्य-कोश, स्क्रोटम, लोमरस, स्पर्मैटोज़ोआ, ओवम, टेस्टीज आदि विषय की प्रशंसनीय विवेचना की गई है। समझाने का ढंग अच्छा है। प्रमाणों की भी कमी नहीं है। शास्त्रीय मत का भी निदर्शन अच्छा किया है। जिस-जिस विषय के ज्ञान में पश्चिमीय विद्वान् पिछड़े हुए हैं, उनका भी संकेत कर दिया है...।